आजकल

अप्रैल 1990

मूल्य : दो रुपये

पंडित देवीदत्त शुक्ल विशेषांक

नरेन्द्र मोहन

डूबने-डूबने को है सूर्य और
एक रोशनी मीनार झलमलाती है
गंगा में

गंगा जल की सुगन्धित रंजित लहरों में हिलता
तपे सोने का स्तम्भ
पीछे बेशुमार रंगों के झूले और
रंग सुगन्ध में

सुगन्ध रंग में तब्दील हो रहे

हिल रही है रोशनी मीनार भगीरथ के जमाने से और
गुजर रहे हैं पुल पर से लोग सदियों से

झबरे बालों वाली एक लड़की और
फटे पाजामे वाला एक लड़का
बीन रहे हैं जंगली पौधों की सूखी टहनियां

डूबते सूर्य की किरणें पड़ रही हैं टहनियों पर
झबरे बालों पर, फटे पाजामे पर

डूबते सूर्य की रोशनी में
गहरे हरे हो गए हैं पहाड़
रोशनी मीनार पिघले सोने में बदलने लगी है

देखते-देखते
सोना कुंदन में और
कुंदन तेजी से तांबे में
डूबते सूर्य को देख
डूबती मां का चित्र खिंच जाता है
आंखों के सामने
और डूबते इतिहास की गवाही देने से पहले
देखता हूं
मां की आंखों में
एक जमाना डूबता हुआ
डूबते सूर्य की तरह! □

239-डी, एम. आई. जी. फ्लैट्स,
राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-110027

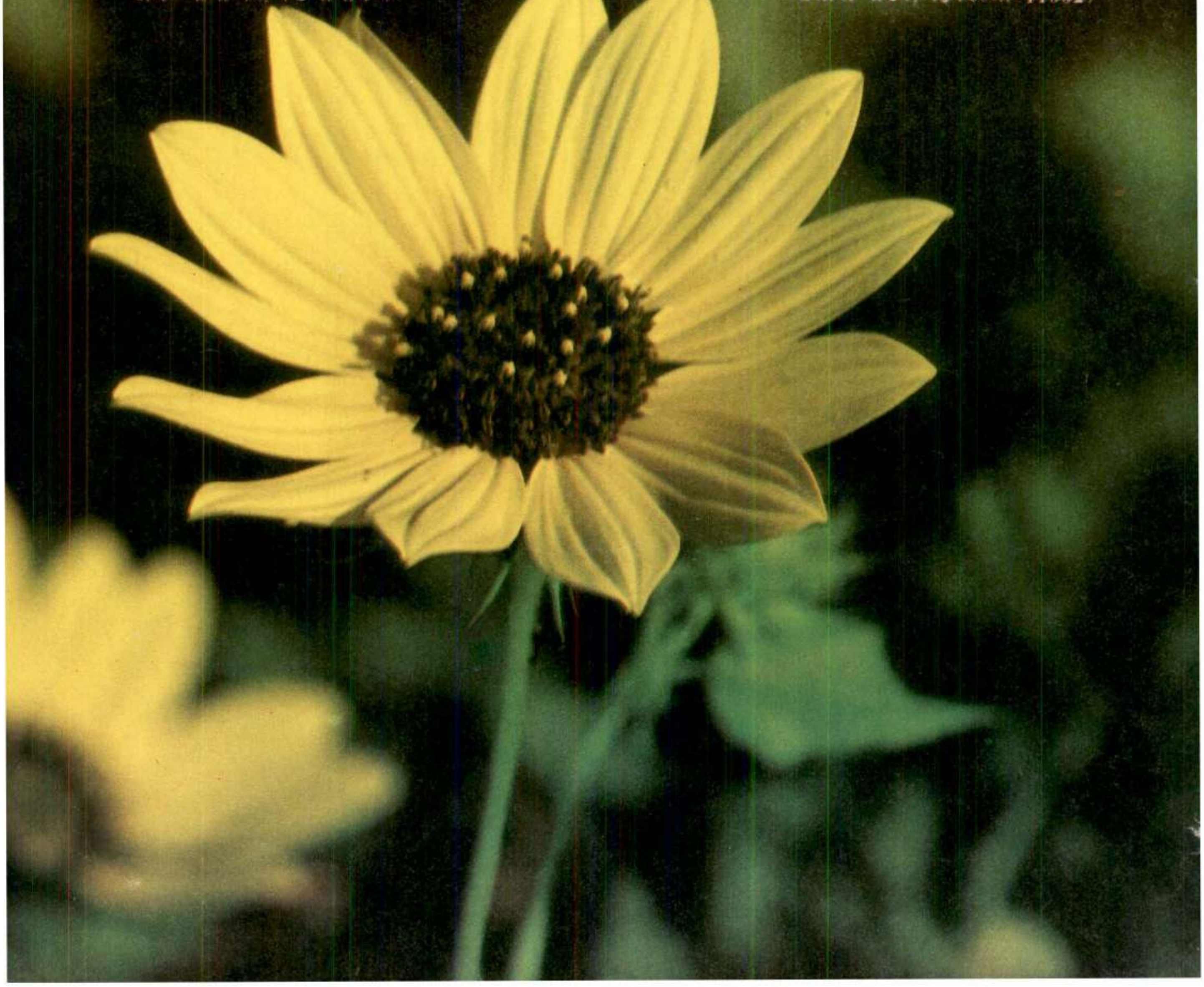

आजकल

आधुनिक साहित्य
एवं
संस्कृति का संवाहक मासिक

वर्ष : 45; अंक : 12; पूर्णांक : 548;
अप्रैल : 1990 (चैत्र-वैशाख, 1912)

सम्पादक
सुरेश चन्द्र शर्मा

सहायक सम्पादक
प्रवीण उपाध्याय

उप-सम्पादक
विजय कुमार

व्यापार व्यवस्थापक
: **जसवंत सिंह**
सहायक व्यापार व्यवस्थापक
: **शकुन्तला**
उत्पादन अधिकारी
: **आर. एस. मुंजाल**
आवरण सज्जा
: **एम. एम. मलिक**

रचना - क्रम

2. प्रतिक्रियाएं

3. सम्पादकीय : सम्पादक शिरोमणि

लेख :

5. विदग्ध-वाक् पंडित देवीदत्त शुक्ल की हिंदीधारिता — **निशांतकेतु**
12. सरस्वती तक का सफर — **सविता चड्ढा**
15. संत सम्पादक पंडित देवीदत्त शुक्ल — **रामजी प्रसाद सिंह**
17. राष्ट्रभाषा हिन्दी के 'स्वर्णयुग' के सम्पादक — **रमादत्त शुक्ल**
28. निराला के समय की भेंट-वार्ता — **जयगोपाल मिश्र**
29. समर्पित पत्रकार पंडित देवीदत्त शुक्ल — **सुभाष चन्द्र 'सत्य'**
32. राष्ट्रभाषा के संरक्षक पंडित देवीदत्त शुक्ल — **धर्मेन्द्र त्यागी**
37. मैं इंडियन प्रेस में नौकरी कर लूंगा — **सुरंजन**
43. साहित्यिक पत्रकारिता के युग-पुरुष — **शेखर चंद त्यागी**
44. सुहाग पर्व गणगौर — **प्रभात कुमार सिंघल**

कहानियां :

20. चौराहे पर — **केवल सूद**
34. अपना पराया — **मदन मोहन राजेन्द्र**
39. पुष्पांजलि — **श्रीनिवास वत्स**

24 **कविताएं :**

नरेन्द्र मोहन, दिनकर सोनवलकर, विजय बैरागी, सुरेश शर्मा, सत्यनारायण सारु, पूरन सहगल, हेमेन्द्र चण्डालिया, शिवशंकर 'मिशिर', तारादत्त निर्विरोध, जयप्रकाश पाण्डेय, ज्योतिष जोशी, संदीप तिवारी, प्रियकार, कुमारी अंजली कटारिया और मनोरंजन प्रसाद

आवरण पृष्ठ II पर पारदर्शी: डी. सी. अग्रवाल

इसके अतिरिक्त पुस्तक समीक्षा, वातायन और रंगमंच आदि नियमित स्तंभ।

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार : सम्पादक 'आजकल' (हिन्दी), प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001
दूरभाष : 387069

'आजकल' दिसम्बर 89 का अंक सुरुचिपूर्ण एवं ज्ञानवर्धक प्रतीत हुआ। सर्वप्रथम आपका सम्पादकीय 'हिन्दी कविता के दो शलाका-पुरुष' सामयिक साहित्यिक परिवेश में उपादेय है। शमशेर को 'कबीर सम्मान' और त्रिलोचन को 'मैथिलीशरण पुरस्कार' प्रदान कर मध्य प्रदेश सरकार ने स्वयं को न केवल गौरवान्वित किया है अपितु अन्य सरकारों के लिए प्रेरणा और दिशा-निर्देश किया है। आम आदमी की गहरी अनुभूति से जुड़े हुए दोनों कवि हिन्दी भाषा की धरोहर हैं। इसी अंक में डा. नगेन्द्र का 'आधुनिक युग संदर्भ और तुलसी का काव्य' जीवन मूल्यों पर सार्थक निबन्ध है। महादेवी जी पर राजमणि राय 'मणि' का लेख 'करुणामय को भाता है तम के पर्दों में आना' एक विनम्र किन्तु सशक्त श्रद्धांजलि है। □

आदर्श प्रहरी, द्वारा भारतीय स्टेट बैंक, उरई सिटी शाखा, उरई-285001 (उ. प्र.)

'आजकल' का स्वागतेय दिसम्बर अंक नसीब हुआ। सम्पादकीय के अंतर्गत 'हिंदी के दो शलाका-पुरुष' श्रद्धेय शमशेर जी और त्रिलोचन जी के सारस्वत व्यक्तित्व से सम्बद्ध अनेकशः दस्तावेजी जानकारियां मिलीं। फनकारों का सम्मान यकीनन अपनी संस्कृति का सम्मान है। 'आजकल' का सब्ज़ दामन थामकर म. प्र. सरकार को बधाई। संदर्भित अंक में प्रकाशित सभी आलेख तथ्य-परक और संग्रहणीय हैं। भाई बलदेव वंशी, अनिरुद्ध सिन्हा, इन्दिरा मोहन की कविताएं, समय-जल में डूबी हुई बांसुरी की मानिन्द हैं। आसिफ रोहतासवी की गजल (अंतिम शेर के अतिरिक्त जिसमें व्याकरण की त्रुटियां हैं) मर्मस्पर्शिनी है। भाई मार्टिन जॉन 'अजनबी' की तथाकथित गजल कहीं से भी गजल के व्याकरण में नहीं है। एक दो खामी हो तो कुछ संकेतित भी किया जाए। इसे मैं खामियों का जखीरा कहूंगा। गजल की बुनियादी शर्त रदीफ-काफिया तक में गलतियां हैं। कलाकार की असावधानी से उपजी विसंगतियां कई-कई नजरियों से सांघातिक हैं। गजल की शिल्पना से सम्बद्ध रचनाकारों को, गजल की दिशा में काम करने वाले शोध-छात्रों को उससे चोट लगेगी। □

मधुर नज्मी, श्री हरिऔध कला भवन, आजमगढ़-276001 (उत्तर प्रदेश)

'आजकल' का दिसम्बर अंक विलंब से प्राप्त हुआ। गरिमा के अनुकूल इस अंक के लेख भी बहुत अच्छे एवं ज्ञानवर्द्धक लगे। डा. नगेन्द्र लिखित 'आधुनिक युग-संदर्भ और तुलसी का काव्य' ने तुलसी को समकालीनता की तुला पर जांचने का सद्प्रयास किया है और डा. नगेन्द्र सफल भी हुए हैं। महादेवी जी पर श्री राजमणि राय 'मणि' के संस्मरण भी अच्छे लगे। श्री रामनारायण उपाध्याय लिखित लेख 'रूप और बाज के प्रणय का ताज-माण्डव' इस अंक का सर्वश्रेष्ठ लेख था। इसकी भाषा ने 'आजकल' के माध्यम से घर बैठे 'मांडव' की सैर करा दी। खो गया मैं—सुन्दर! अति सुन्दर!

'आजकल' से मैं सुन्दर कहानियों की अपेक्षा की मांग बराबर करता रहा हूं। इस अंक ने कमोबेश मेरी मांग पूरी कर दी है। इस अंक की दोनों कहानियां—'बेमौसम बरसात' एवं 'निरीहता के पार' अच्छी लगीं। मृदुला बिहारी जी की कहानी मानव मन की करुणा को रेखांकित करती हुई पाश्चात्य रंगों के दुष्प्रभावों को उकेर गई। आज के इस युग में भावना की कीमत अब रही नहीं—प्रायः हर जगह 'बुचिया माई' एक दरवाजे से दूसरे दरवाजे पर दस्तक देती है—प्यार के लिए, अपनत्व के लिए और डाक्टर और बहूरानी को दूसरी 'नौकरानी' मिल भी जाती है। इसके अतिरिक्त डा. सरोज अग्रवाल के लेख भी भाए परन्तु लेख में शीर्षक के अनुरूप कसाव का अभाव था। मार्टिन जॉन 'अजनबी' की गजल, वर्तमान जलते भारत के परिप्रेक्ष्य में अच्छी लगी। 'नये हस्ताक्षर' स्तम्भ निश्चय ही युवाओं, नवांकुरों को जमीन देगा। □

मनोहर लाल विश्वास, बरसौनी, पूर्णिया (बिहार)

दिसंबर अंक काफी अच्छा रहा—हर प्रकार, हर दृष्टि से संतोषप्रद, तुष्टिदायक। लेख, कहानी, कविताएं काफी अच्छे रहे। और आपका सम्पादकीय भी बड़ी गहन, गरिमामय, हिन्दी कविता के दोनों शलाका-पुरुषों के व्यक्तित्व-कृतित्वानुरूप। आपने अपनी चमत्कारिक मर्मभेदिनी, सारग्राहिणी दृष्टि से इन दोनों शलाका पुरुषों—शमशेर व त्रिलोचन के काव्य-व्यक्तित्वों व काव्य चेतनाओं के गुण वैशिष्ट्यों का बड़ा ही सारगर्भित सामग्रिक रूपांकन-मूल्यांकन प्रस्तुत किया है।

तुलसी के काव्य की प्रासंगिकता सम्बन्धी डा. नगेन्द्र का लेख बड़ा ही संतुलित, मर्यादित व सारगर्भित रहा— डा. नगेन्द्र, जैसा कि उनसे अपेक्षित-आकांक्षित है, ने अपनी गहन विवेकशीलता व मर्यादाशीलता के साथ अपनी गहनगूढ़ विवेचना-शक्ति को समन्वित कर अपने विषय के साथ सम्पूर्ण न्याय किया है।

महादेवी जी के प्रति अपनी श्रद्धा, अपनी अपरिमित श्रद्धा निवेदन करने के क्रम में राजमणि राय जी स्वयं एक कविता बन गए हैं। मृदुला बिहारी की कहानी 'निरीहता के पार' बहुत ही अच्छी रचना रही। नरेन्द्र मोहन, बलदेव वंशी, विश्वनाथ गुप्त की काव्य रचनाएं एक विशेष प्रकार के ऊर्जा-चैतन्य के प्रवाह में बहा ले गईं—अन्य सभी सामग्री पठनीय और ज्ञानवर्धक रहीं। □

रवीन्द्रनाथ ओझा, डाक बंगला रोड, बेतिया (बिहार)

'आजकल' का दिसम्बर अंक देखकर अति प्रसन्न हुआ। आवरण पृष्ठ बड़ा ही मनमोहक लगा। सम्पादकीय में आपने शमशेर और त्रिलोचन के बारे में उपयोगी और प्रासंगिक बातें कही हैं। बंगला कहानी 'बेमौसम बरसात' के लिए समरेश बसु को कोटिशः धन्यवाद। लेखक ने विषय प्रतिपादन की दृष्टि से यथार्थवाद का सहारा लेकर 'भूतेश' का मनो-विश्लेषण प्रशंसनीय रूप में किया है।

श्याम नारायण मिश्र, मार्टिन जॉन 'अजनबी', आसिफ रोहतासवी और कलावंती सिंह 'सुमन' की रचनाएं अच्छी लगीं। 'निरीहता के पार' में कथा लेखिका मृदुला बिहारी ने 'बुचिया माई' की मनःस्थिति का चित्रण अच्छे ढंग से किया है। □

अमर कुमार मिश्र, लालबाग, दरभंगा (बिहार)

सम्पादकीय

सम्पादक शिरोमणि

किसी मूर्धन्य सम्पादक पर केवल कुछ ही शब्दों में लिखना और वह भी इस ढंग से कि उसमें उसके व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों का स्पर्श हो, अपने आप में एक कठिन कार्य है। कठिनाई तब और बढ़ जाती है जब वह सम्पादक पंडित देवीदत्त शुक्ल जैसा विलक्षण प्रतिभा का धनी हो।

सन् 1900 ई. में इंडियन प्रेस के स्वामी बाबू चिंतामणि घोष ने इलाहाबाद से हिन्दी की मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का प्रकाशन शुरू किया था। शुरू के दो वर्षों तक इसका सम्पादन एक सम्पादन-मंडल के हाथ में रहा। इसके पश्चात जनवरी 1903 से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी इसके सम्पादक बनाए गए। आगे चल कर कामता प्रसाद गुरु, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, ठाकुर श्रीनाथ सिंह और पंडित उमेशचन्द्र मिश्र जैसे विद्वान सम्पादकों ने इसके सम्पादन का कार्यभार सम्भाला। इसी कड़ी में सन् 1920 से 1946 तक पंडित देवीदत्त शुक्ल ने भी इस पत्रिका के सहायक-सम्पादक और फिर पूर्ण सम्पादक के रूप में हिन्दी जगत की जो सेवा की उसे भुला पाना सम्भव नहीं है। शुक्ल जी आचार्य द्विवेदी के शिष्य भी थे और उन्हीं के परामर्श से 'सरस्वती' के सम्पादक बनाए गए थे। यद्यपि अपने गुरु की भांति वह उच्च-शिक्षा तो नहीं प्राप्त कर पाए परन्तु उनकी योग्यता विलक्षण थी। जिस दृढ़ता, संकल्प, ईमानदारी और निष्ठा से उन्होंने 'सरस्वती' का सम्पादन किया, उससे उन्होंने साहित्यिक-पत्रकारिता के युग पुरुषों की श्रेणी में अपना स्थान बना लिया। हिन्दी भाषा के प्रति शुक्ल जी का अनुराग अन्यतम था। हिन्दी की रक्षा के लिए उन्होंने गांधीजी जैसे महान पुरुष से भी टक्कर ली। हालांकि वह अत्यंत ही मृदुभाषी और सच्चे अर्थों में गांधी-वादी थे परन्तु गांधी जी की भाषा नीति की उन्होंने डट कर आलोचना की। हिन्दी के स्थान पर 'हिन्दुस्तानी' को उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। गांधीजी की ओर संकेत करते हुए उन्होंने लिखा—"हिन्दी पर न मालूम किस ग्रह की दृष्टि पड़ गई है कि...और तो और, जिन लोगों ने इसे राष्ट्रभाषा स्वीकार किया था, वही आज यह प्रयत्न कर रहे हैं कि हिन्दी 'हिन्दुस्तानी' हो जाए और हिन्दी वाले राम को रहीम और धर्म को मजहब लिखा करें।"

नए लेखकों और कवियों को शुक्ल जी ने सदा प्रोत्साहित किया। इस तरह 'सरस्वती' का सम्पादन करते हुए उन्होंने हिन्दी को जहां अनेक सशक्त रचनाकार दिए वहीं उसे एक नई दिशा और आयाम भी दिया। बड़े दुर्भाग्य की बात है कि उनकी गहन साहित्यिक साधना का मूल्यांकन अभी तक नहीं किया जा सका है। शुक्ल जी ने प्राचीन हिन्दी कवियों की दुर्लभ रचनाओं की खोज और प्राचीन पाण्डुलिपियों के जीर्णोद्धार पर बल दिया। लोक-गीतों और विभिन्न बोलियों के गीतों का संग्रह करने तथा उनके प्रकाशन में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

लगभग तीस वर्षों की अपनी साहित्यिक पत्रकारिता के दौरान शुक्ल जी ने 'सरस्वती' के अलावा कुछ समय तक 'बाल सखा' का भी सम्पादन किया। 1942 में उन्होंने प्रयाग से 'चण्डी' नाम की एक आध्यात्मिक पत्रिका शुरू की जिसके सम्पादन और प्रकाशन का पूरा भार वह स्वयं सम्भालते थे। यह पत्रिका पंडित शिवनाथ काटजू के सहयोग से निकाली गई थी पर उसके सम्पादक के रूप में कभी भी उन्होंने अपना नाम नहीं दिया। शुक्ल जी प्रारम्भ से ही शाक्त थे। परन्तु अपने विचारों को उन्होंने 'सरस्वती' पर हावी नहीं होने दिया। तंत्र-विद्या के उद्धार के लिए ही उन्होंने 'चण्डी' पत्रिका का अलग से प्रकाशन शुरू किया था। तंत्र-विद्या को सार्वजनिक रूप से प्रकाश में लाने के कारण उन्हें कई पोंगापंथी पंडितों के आक्रोश का सामना भी करना पड़ा।

पंडित शुक्ल मात्र सम्पादक ही नहीं एक सफल साहित्यकार भी थे। 'सम्पादक के पचीस वर्ष', 'कुछ खरी-खरी', 'अवध के गदर का इतिहास', 'स्वाधीनता के पुजारी', 'क्रांतिकारी', 'एक आत्मकथा', 'जापान का हाल', 'काल रात्रि', 'एकादशी', 'पकौड़ीवाला', 'बाल कविता', 'द्विवेदी-काव्य माला' आदि उनकी कुछ प्रमुख कृतियां हैं। इसके अलावा उन्होंने तंत्र-विद्या, अध्यात्म दर्शन तथा धर्म सम्बंधी विषयों पर भी अनेक पुस्तकें लिखीं। उन्होंने हिन्दी के भाषानुशासन से साहित्य-संयमन तक, पत्रकारिता से अनुवाद तक और तांत्रिक वाङ्मय के पुनरुद्धार से सांस्कृतिक चिंतन तक हिन्दी-साहित्येतिहास को समृद्ध करने का भागीरथ प्रयत्न किया।

शुक्ल जी जीवनपर्यन्त हिन्दी के सेवक रहे। परन्तु बड़े दुख के साथ कहना पड़ता है कि आज हम उनके समूचे कृतित्व को भूल चुके हैं और हम उन्हें केवल 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में पहचानते हैं। लेकिन आज के नव-साहित्यकारों और सम्पादकों के मन में उनके प्रति जो आदर का भाव है वह उनके गौरव के अनुकूल है। साहित्य के ऐसे महारथी को हमारा शत् शत् प्रणाम। □

सचित्र मासिक पत्रिका

सम्पादक

देवीदत्त शुक्ल—उमेशचन्द्र मिश्र

जनवरी १९४१ } भाग ४२, खंड १ ख्या १, पूर्ण संख्या ४९३ {पौष १९९७

वाणी !

लेखक, श्रीयुत सुमित्रानन्दन पन्त

मानव की मानस-वीणा से भाव-नाद-सी निःसृत,
युग-जीवन के विविध अभावों के घातों से झंकृत,
उमड़ो वाणी, तड़ित् रचित गर्जन-सी मंद्र हरित-स्मित,
रजत कल्पना के रूपोज्ज्वल राजहंस पर शोभित !

निराकार निःशब्द ज्योति-तम से कारण-मन के जग,
नव जीवन की आकांक्षा का मोहक इन्द्रधनुष रँग,
बाँधो स्वर का सेतु भूत भावी हो जावें अपृथक्,
मानवीय संस्कारों से संबंधित जड़-चेतन-जग !

वीणापाणि, प्रिये, गाओ, हों स्वर्ग-मर्त्य आंदोलित,
नील शून्य के ज्योति पिंड हों, नव प्रकाश से स्पन्दित,
नाचें सिंधु तरंग उच्छ्वसित, धरा शस्य रोमांचित,
नर-नारी नाचें विमुक्त, मानवता में आलिंगित !

गाओ हे, फुफकार उठे फन गगन-नील दिक् कुंडल,
युग-युग के जन सन्तापों की गरल वृष्टि कर अविरल !
लहक उठे जन सागर में सोया जीवन बड़वानल,
नवयुग की हिल्लोलों पर ज्वाला के पगधर उज्ज्वल !

जन जन के मानस शतदल पर भाव भ्रमर-सी गुंजित,
गाओ जन वाणी, नव जीवन संबंधों को जीवित !
नव संस्कृति की गर्जन से जन मन मयूर हों नर्तित,
रूप रंग के बर्हभार वैभव से दश दिशि रंजित।

'सरस्वती' पत्रिका का जनवरी 1941 अंक का मुख पृष्ठ

विदग्ध-वाक् पंडित देवीदत्त शुक्ल की हिंदीधारिता

निशांतकेतु

पंडित देवीदत्त शुक्ल ने पचीस वर्षों तक 'सरस्वती' का सफल तथा सार्थक संपादन किया था, इसलिए उन्हें संपादक-शिरोमणि कहा गया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती'-संपादन की धुरिकीर्ति, भाषा-संस्करण की प्रतिमिति एवं साहित्य संवर्धन की समर्पित निष्ठा उन्हें विरासत में मिली थी। शुक्ल जी ने अपने प्रशिक्षित क्षेत्र को और भी विस्तारित एवं बहु-आयामी बनाया था। वे एक विदग्ध-वाक् बहुज्ञ विद्वान थे। पंडित शुक्ल उन अंगुलिगण्य हिंदीधर व्यक्तियों में परिगण्य और सर्वमान्य हैं, जिन्होंने हिंदी-हितैषिता में पचासी वर्षों का अपना जीवन समर्पित किया था। उन्होंने हिंदी के भाषानुशासन से साहित्य-संयमन तक, पत्रकारिता से भाषांतर तक तथा तांत्रिक वाङ्गमय के पुनरुद्धार से सांस्कृतिक चिंतन तक हिंदी-साहित्येतिहास को समृद्ध करने के विविध उल्लेखनीय एवं इतिहास-सिद्ध कार्य किए हैं। वे एकांत साधना के पक्षधर थे, इसीलिए वे प्रथित मंच की अपेक्षा नेपथ्य-नियामक ही बने रहे। उनका व्युत्पन्न व्यक्तित्व एक समर्पित हिंदीधर का था।

हिंदी-पत्रकारिता में 'सरस्वती' का महत्व अनेक रूपस्तर पर स्वीकृत है। एक ओर यह पत्रिका लोकरुचि से अनुकूलित होकर उसका प्रतिनिधित्व करती थी तो दूसरी ओर लोक-रुचि का निर्माण भी करती रही है। यह पत्रिका हिंदी-लेखकों की लोकप्रतिष्ठा का प्रमाण-पत्र भी बनी है। अकेले इस पत्रिका ने हिंदी को शताधिक सुलेखक दिए। 'सरस्वती' हिंदी का 'सरस्वती-मंदिर' बन गई थी, जिसके घंटारव से रचनाकारों को लोकस्वीकृति तथा प्रथितकीर्ति उपलब्ध होती थी।

'सरस्वती' के संपादकों में अनेक नाम हैं: आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, कामता प्रसाद गुरु, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, पंडित देवीदत्त शुक्ल, पंडित देवी प्रसाद शुक्ल, पंडित सुंदर लाल, दीनदयाल श्रीवास्तव, पंडित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', आनंदी प्रसाद श्रीवास्तव, पंडित ठाकुरदत्त मिश्र, ठाकुर श्रीनाथ सिंह, पंडित सुंदरलाल त्रिपाठी, पंडित उमेशचन्द्र मिश्र, कुलभूषण पंडित रमादत्त शुक्ल, पंडित देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' तथा पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी। 'सरस्वती' के संपादन-सहयोगियों में पंडित उदयनारायण बाजपेयी, पंडित हरिभाऊ उपाध्याय, गणेशशंकर विद्यार्थी तथा पंडित शंभुनाथ शुक्ल के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इन सब में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (सरस्वती-संपादन : 1903 से 1919 ई. तक) तथा पंडित देवीदत्त शुक्ल (सरस्वती-संपादन : 1920 से 1947 ई. तक) के नाम सरस्वती-संपादन के रूप में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय हैं। 'सरस्वती' के माध्यम से साहित्य के साथ साहित्यकार का भी निर्माण हुआ है।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से मुद्रणकला के व्यापक प्रचार-प्रसार के कारण मुद्रित साहित्य के दो स्वरूप स्थिर हुए, पात्रिक साहित्य तथा ग्रांथिक साहित्य। इनमें 'पात्रिक साहित्य' की भूमिका अधिक रचनाभूमि और अधिक पाठकीय मानस-भूमिपीठ घेरने की रही है। किसी भी साहित्य के 'उपस्थित वर्तमान' के सामूहिक रचना-मानस और रचना-प्रक्रिया का सर्वांगीण प्रतिनिधित्व पात्रिक साहित्य से ही संभव हो पाता है। आजकल आकाशवाणी और दूरदर्शन को भी लोकलेखन एवं समीचीन चिंतन का निर्णय-माध्यम मान लिया गया है। इनमें पात्रिक साहित्य लोकरुचि एवं लोकमत का निर्माण करता है। अलंकार-भाषा का आश्रय लिया जाए तो कहा जा सकता है, 'पात्रिक साहित्य' (साहित्यिक पत्र-पत्रिका-प्रकाशन) 'पथ' का प्रशस्तीकरण है, जबकि 'ग्रांथिक साहित्य' (ग्रंथाकार में प्रकाशित विविध विधागत साहित्य) उस पथ पर रथावतरण। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा पंडित देवीदत्त शुक्ल पथनिर्माता संपादक-शिरोमणि थे। पथनिर्माता को निर्मित पथ पर टहलने का अवसर और अवकाश नहीं मिलता।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी युगनिर्माता थे। उन्होंने जिस 'राष्ट्रीय आदर्शवाद' की स्थापना की थी, उसमें विश्वसनीय यथार्थवाद की अनुस्यूति तो थी, किंतु विह्वल भावुकता या सस्ते उद्रेक का सावधान बहिष्कार था। मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचंद कविता एवं कथा के क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी के इसी राष्ट्रीय आदर्शवाद के प्रभावित उत्तरपरिणाम-रचनाकार थे। पंडित देवीदत्त शुक्ल द्विवेदी के प्रशिक्षित उत्तराधिकारी सिद्ध हुए। सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने 4 नवंबर, 1938 को लिखे गए पंडित देवीदत्त शुक्ल के नाम अपने पत्र में स्वीकार किया है, "मैंने 'सरस्वती' से ही हिंदी सीखी है।" आचार्य द्विवेदी ने मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' महाकाव्य के आरंभिक सर्ग अपने संपादन की 'सरस्वती' में छापे थे तो पंडित देवीदत्त शुक्ल ने अपने संपादन की 'सरस्वती' में अंतिम सर्ग छापे।

'मेरे गुरुदेव' शीर्षक अपने निबंध में पंडित देवीदत्त शुक्ल ने लिखा है, "द्विवेदी जी असाधारण पुरुष-पुंगव हैं। वे जैसे विद्वान और बहुज्ञ हैं, वैसे ही प्रतिभाशाली और क्षमतावान भी हैं। उनकी विद्वत्ता और बहुज्ञता का परिचय जहां उनकी चारु कृतियां देती हैं, वहां उनकी कृतियों की, प्रत्येक पंक्ति से उनकी प्रतिभा और क्षमता का भी ज्ञान होता है।"

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को हिंदी-साहित्य का भीष्म पितामह कहा जाता है तो पंडित देवीदत्त शुक्ल को हिंदी-साहित्य का प्रत्यंचित बाणाग्र-पुरुष अर्जुन कहा जाना समुचित-समीचीन होगा। उन्होंने अपने संपादकीय एवं विविध लेखों की अक्षर-धार से साहित्य-जगत के स्वैराचार एवं दुर्विदग्धता का उच्चाटन भी किया है। 'हिंदी-प्रचार के कुछ बाधक कारण' (सरस्वती, जुलाई 1917) शीर्षक निबंध में उन्होंने हिंदी-पाठकों पर व्यंग्य-बाण चलाते हुए लिखा है, "हमने एक बार कहीं पढ़ा था कि जापान के इक्के वाले तक अखबार पढ़ने के शौकीन हैं। इधर हमारे देश के पंडित तक अखबार नहीं छूते।" एक दूसरे निबंध 'हिंदी-पुस्तकों की खोज' ('माधुरी', मार्च 1931) में शुक्ल जी ने मिश्रबंधुओं की खबर लेते हुए लिखा है, "....और सबसे अधिक लाभ तो उठाया है खोज-विभाग के एक भूतपूर्व सुपरिंटेंडेंट पंडित श्याम विहारी मिश्र ने, जिन्होंने इसकी सहायता से अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'मिश्र-बंधु-विनोद' लिखा है, जिसमें हिंदी की रत्नराशि के साथ-साथ उसका कूड़ा-करकट भी यथास्थान एकत्र कर दिया गया है।" 'शर्मा जी का गौरव' ('अभ्युदय', जुलाई 1934) निबंध में उन्होंने पद्म सिंह शर्मा का प्रक्षालन किया है। शर्मा जी के ग्रंथ–'सतसई-संहार' के संबंध में वे लिखते हैं, "...उनकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण यह हुआ कि उनके पहले सतसई जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथ की समालोचना किसी ने नहीं की थी। शर्मा जी आलोचक के रूप में जहां एक ओर मार्मिक विद्वान थे, वहां वे कर्कश और शरारती चुहलबाज भी थे।....शर्मा जी के भक्तगण उन्हें 'संपादक जी' कहा करते थे, परंतु हिंदी-पत्रकार कला पर उनका कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ा।.... 'संपादक जी' के बाद उनकी एक पदवी 'समालोचनाचार्य' की थी। यह पदवी उन्हें भावुक पत्रकारों ने प्रदान की थी।" हिंदी-साहित्य के सावधान सचेतक के रूप में दोष-निर्देश तथा शब्दवेधी बाण-क्षेपण के साथ उन्होंने पूर्वग्रह-रहित गुणग्राहकता का भी परिचय दिया है। हिंदी-साहित्य में समालोचना-साहित्य के प्रवर्तन को रेखांकित करते हुए उन्होंने स्वीकार किया है कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के ग्रंथ 'हिंदी कालिदास' की समालोचना (1901 ई., मर्चेंट प्रेस, कानपुर से प्रकाशित) से समालोचना का प्रवर्तन होता है। पद्मसिंह शर्मा लिखित 'सतसई-संहार' को वे दूसरा महत्व देते हैं और तीसरे महत्वपूर्ण पड़ाव के रूप में वे मिश्रबंधु लिखित 'नवरत्न' को ही स्थापित करते हैं। इससे शुक्ल जी के नीरक्षीर-न्याय-युक्त सर्व शास्त्रसमालोकी व्यक्तित्व का परिचय मिलता है।

'साहित्यिकता का एक रूप' ('मदारी', अप्रैल 1935) निबंध में शुक्ल जी ने महात्मा गांधी के संबंध में लिखा, "यह हिंदी के लिए सौभाग्य की बात है कि इस समय उसकी सर्वप्रमुख संस्था (प्रयाग-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन) की बागडोर साल-भर के लिए महात्मा गांधी ने अपने हाथों में लेकर हिंदी का भी कुछ काम करने की सदिच्छा प्रकट की है।" परन्तु कुछ लेखकों ने इस पर अपनी आपत्तियां प्रकाशित करवाईं। यहां तक कि उन लोगों ने महात्मा गांधी पर सौदेबाजी का आरोप लगाया। इससे शुक्ल जी क्षुब्ध हुए और इस निबंध में उन तथाकथित लेखकों की खबर लेते हुए लिखा, "इसमें संदेह नहीं कि इन लोगों ने जिस प्रकार की धृष्टता या अहम्मन्यता का प्रदर्शन किया है, उससे उनके शील और सदाचार के ढोंग का भी पर्दा भली प्रकार फाश हो गया है, परंतु इस सब की उन्हें परवाह होती तो वे ऐसा स्वांग ही क्यों भर कर लाते?...इन हुड़दंगवादियों के कलुष-व्यापार को बंद करने के लिए उन्हें आगे आना ही पड़ेगा।" इस प्रसंग में शुक्ल जी ने इस अभिमत-प्रकाशक पत्रिकाओं को भी खरी-खोटी सुनाने का निर्भीक साहस दिखाया है, "यह कितने परिताप की बात है कि हिंदी के जो संपादक अभी कल तक महात्मा जी के संबंध की साधारण-से साधारण बात को अपने पत्र में छापकर अपने को गौरवान्वित समझा करते थे, वही आज उन्हीं महात्मा जी के विरुद्ध अनावश्यक और विचार-शून्य लेख छापने में नहीं हिचकिचा रहे हैं। और इस पुनीत कार्य में सबसे आगे वह 'भारत' तथा वह 'अभ्युदय' है, जिनके संपादकों को अपनी-अपनी न्याय-निष्ठा का विशेष गर्व रहता है।" इस लेख-भंगिमा में 'पर्दाफाश' शब्द-समास का विच्छेद-प्रयोग निशाने पर चुभते तीर की तरह है। 'परिताप' शब्द-प्रयोग में व्यथा का संघनन हुआ है। पत्रिका-नाम के पहले सार्वनामिक विशेषण 'वह' का प्रयोग व्यंग्य-व्यंजक बन पड़ा है। कहने का तात्पर्य यह कि शुक्ल जी संपादक-मात्र नहीं, वरन् संपादकों के अनुशासक भी थे। इस विचारणा में वे निर्भय और सत्याश्रित औचित्य-संस्थापक थे। इसीलिए उन्हें संपादकों का भी संपादक कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी।

'मदारी' के मई 1935 अंक में शुक्ल जी ने 'फतवेबाज आलोचक' शीर्षक एक निबंध लिखा। इसमें उन्होंने 'निंदावाद' की निंदा की है। समर्पित लेखक की प्रशंसा और अंतःसार-शून्य तथाकथित लेखकों की उन्होंने निंदा की है। उनकी निर्भय एवं निभ्रांत स्पष्टोक्ति है, "उन्हें गर्दन उठाकर देखना चाहिए कि जिस हिंदी की साहित्यरचना में उन्होंने अपना खून सुखाया है, उसके क्षेत्र में ये निंदक लोग मौज ही नहीं मना रहे हैं, किंतु मौके-बे-मौके उनकी अवमानना भी करते रहते हैं, उन्होंने हिंदी की साहित्य-वृद्धि में अपनी सारी जिंदगी लगा दी है। और ये

साहित्य-निंदक ऐसे लेख-लिक्खाड़ हैं कि इनकी एक भी ऐसी रचना ढूंढे न मिलेगी, जो साहित्य के किसी भी अंग की संख्या बढ़ाने में काम में लाई जा सके।"

हिंदी-क्षेत्र में पात्रिक साहित्य के अंतर्गत जो अराजकता और शीलराहित्य उन दिनों जड़ें जमाने लगा था उसके खिलाफ उन्होंने बेबाक आवाज उठाई। उन्होंने तत्कालीन 'गुरुडमशाही', 'महंत', 'बेहुरमती', 'दंभलीला' शब्दों का उल्लेख करते हुए उनके खिलाफ पैना तेवर दिखाया है। 'साहित्य की विभीषिका' ('मदारी', सितंबर 1935) में उन्होंने लिखा, "ऐसे हरैले कहां नहीं होते, जो कुश्ती हार जाने पर भी उठ कर अपने हराने वाले को दौड़ कर फिर लड़ने के लिए पकड़ लेते हों।"

सन् 1935 के आस-पास हिंदी के कुछ प्रसिद्ध दैनिक पत्र थे—भारत (प्रयाग), आज (काशी), प्रताप (कानपुर), वर्तमान (कानपुर), विश्वमित्र, भारतमित्र एवं लोकमान्य (कलकत्ता), नवयुग एवं अर्जुन (दिल्ली), हिंदी-मिलाप (लाहौर), स्वाधीन भारत (बंबई)। इनके अलावा भी कई दैनिक पत्र निर्गत होते थे, परंतु इन उल्लिखित पत्रों का महत्व और विशेष प्रचार-प्रसार था। पंडित शुक्ल का संबंध-संपर्क इन सभी पत्रों से था। सत्यप्रकाशन का वे सदैव सत्कार करते और दुर्विदग्ध प्रकाशनों पर फटकार बताते। 'मदारी', अक्तूबर 1935 में प्रकाशित 'हिंदी-दैनिक' शीर्षक निबंध में सत्कार एवं फटकार की एक लोकचित्ताश्रित टिप्पणी मिलती है, "....'आज' तो अपने महत्वपूर्ण संपादकीय टिप्पणियों से किसी भी सुसंपादित अंग्रेजी दैनिक से मुकाबला कर सकता है। इसी प्रकार 'भारत' एक बड़े हिंदी दैनिक के अभाव की पूर्ति कर रहा है। इसकी संपादकीय टिप्पणियां तथा दूसरी पाठ्य सामग्री बहुत कुछ एक उच्चकोटि के दैनिक के उपयुक्त रहती है। परन्तु न 'भारत' ही, न 'आज' ही हिंदी के लोकप्रिय दैनिक हो सके। इसका क्या कारण है, इसकी ओर इन पत्रों के संचालकों का ध्यान आज तक नहीं गया। 'आज' तो एक धनकुबेर का पत्र है, जो उसके निर्दिष्ट विचारों के अनुसार ही निकलना उचित समझता है। वह काशी के पंडितों का विरोध करना, डाक्टर भगवानदास और बाबू श्रीप्रकाश के गुण गाना तथा डटकर खरी राजनैतिक आलोचना करना ही अपना धर्म समझता है। इसके विपरीत 'भारत' एक व्यवसायी कंपनी का पत्र होकर भी अभी तक अपना प्रचार बढ़ा नहीं सका है।"

उस जमाने में हिंदी की साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओं की संख्या अंगुलिगण्य नहीं थी, पर शुक्ल जी के अभिमत में "इस समय दैनिकों और मासिकों के बीच साप्ताहिक दबे हुए जान पड़ते हैं।" उस समय के कुछ उल्लेखनीय साप्ताहिकों के नाम हैं—बंगवासी, श्रीवेंकटेश्वर, अभ्युदय, आर्यमित्र, प्रताप कर्मवीर, जयाजीप्रताप, हिंदीकेसरी, विश्वमित्र, सैनिक, भारत, लोकमान्य, पंडितपत्र, अर्जुन, हिंदी-मिलाप, स्वराज्य, नवशक्ति, हिंदुस्तान, राजस्थान, योगी इत्यादि। 'हिंदी के साप्ताहिक' ('मदारी', अक्तूबर 1935) निबंध में शुक्ल जी ने लिखा है, "बंगवासी और श्रीवेंकटेश्वर बहुत पुराने साप्ताहिक हैं और इनके समय के अनेक साप्ताहिक बंद ही नहीं हो गए हैं, किंतु इन्होंने कितने ही उत्तम-उत्तम साप्ताहिकों को जन्म लेते और मरते देखा है। परन्तु ये दोनों साप्ताहिक आज भी अपने पुराने ढर्रे पर ही चले जा रहे हैं। वही सनातन-धर्म का समर्थन और वही

निशांतकेतु

हिंदुत्व-प्रधान राष्ट्रीयतावाद।" इस टिप्पणी में 1935 में वह बात कही गई है, जिसके आधार पर 1948 ई. में गणतंत्र की घोषणा के बाद भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्षता को सर्वाधिक महत्व दिया गया। 'सनातन धर्म' के पहले 'वही' सार्वनामिक विशेषण के शब्दविन्यास के माध्यम से पंडित देवीदत्त शुक्ल ने सर्वधर्म-समदर्शिता एवं धर्मनिरपेक्षता की दृष्टि देते हुए केवल सनातनधर्म के समर्थन की दृष्टि को दिनातीत बताया है। 'हिंदुत्वप्रधान राष्ट्रीयता' को भी उन्होंने उन्हीं दिनों दिनातीत सिद्ध कर दिया था। इस सूत्र टिप्पणी के माध्यम से शुक्ल.जी ने आधुनिक एवं समीचीन धर्मनीति एवं राष्ट्ररूप की कल्पना की थी। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के संस्थापित 'राष्ट्रीय आदर्शवाद' को शुक्ल जी ने और अधिक व्याख्यात एवं मुक्तवातायन बना दिया। यह उनकी स्वस्थ भारतीय राष्ट्रीयता तथा सर्वोत्तम-संग्रहोन्मुखी संस्कृति-चिति का व्युत्पन्न व्याख्यात है। वे स्वयं एक धर्मनिष्ठ और साधक हिंदु थे, किंतु राष्ट्र का प्रश्न उपस्थित होने पर उन्होंने लोकबद्ध व्यक्ति के रूप में व्यक्ति-विसर्जित एवं समाज-संदर्भित होने का सफल चिंतन-प्रमाण उपस्थित किया है।

'हिंदी के साप्ताहिक' निबंध में उन्होंने अन्य साप्ताहिकों पर अपने निर्द्वंद्व विचार प्रकट किए हैं, "'अर्जुन' दूसरों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है।....'आर्यमित्र' आर्यसमाज का मुखपत्र है। जैनियों के 'जैनमित्र' आदि तथा सनातनियों का 'सनातनधर्म' भी निकलता है।....'हिंदी केसरी' साप्ताहिक न मालूम क्यों प्रकाशित होता है?....प्रताप, कर्मवीर, लोकमान्य, सैनिक, नवशक्ति और योगी एक प्रकार से कांग्रेस के पत्र हो गए हैं।....हिंदी-राजस्थान, प्रजामित्र, रतलाम-समाचार आदि कुछ ऐसे साप्ताहिक भी हैं, जो देशी नरेशों के कलंक या कीर्ति को प्रकाशित करने के लिए निकलते हैं।"

उस युग में मासिक पत्रिकाओं का सर्वाधिक महत्व था। उन दिनों की मासिक पत्रिकाओं में सरस्वती, माधुरी, सुधा, विश्वमित्र, चांद, विशाल भारत, हंस, वीणा, गंगा इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। 'मासिक पत्र-पत्रिका' ('मदारी', नवंबर 1935) निबंध में 'सरस्वती' तथा 'माधुरी' का उन्होंने तुलनात्मक उल्लेख किया है, ''हिंदी में मासिक पत्रों की प्रारंभ से ही प्रतिपत्ति रही है। इसमें संदेह नहीं कि सुरुचिपूर्ण ढंग से सज-धज के साथ निकलने का प्रारंभ 'सरस्वती' से हुआ है, परन्तु उसकी वह सजावट एक मर्यादा के भीतर थी। इधर जब 'माधुरी' निकली, तब उसने उस मर्यादा को लात मारकर एक ऐसी राह पकड़ ली, जो आज सबके बस की बात नहीं रही। 'माधुरी' ने नए रूप में निकलकर पत्रिकाओं को 'खिलौना' बनने का मार्ग दिखाया है।''

इस उद्गार और विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी ऐसी साहित्यिक पत्रिकाओं से राष्ट्रीय संस्करण-संस्कारण का काम लेना चाहते थे। इसके माध्यम से लोकरुचि का परिष्कार और अनाविल चरित्र के निर्माण की बात भी उनके मानस में सदैव बनी रहती थी। ऐसी पत्रकारिता मात्र मनोरंजन या खिलौना-भर नहीं है।

पंडित देवीदत्त शुक्ल ने 'कल्याण' जैसे लोकप्रिय मासिक को भी अपने कोपानल की लपेट में लिया है, ''पत्रिका को 'खिलौना' बनाने के आदर्श को ग्रहण करके गोरखपुर के 'कल्याण' ने सभी मासिक पत्रिकाओं को मात दे दी है। उसके नेत्ररंजक धार्मिक चित्रों ने और उसके भारी-भरकम विशेषांकों ने हिंदी के मासिकों के संचालकों के होश-हवास दुरुस्त कर दिए हैं और इस संबंध में हिंदी के क्षेत्र में 'कल्याण' अद्वितीय है।''

पंडित शुक्ल निर्भीक विचार और धारदार भाषा के धनी थे। बहुपठित तथा शास्त्रज्ञ होने के कारण उनके तूणीर में तर्क के अशेष तीर थे। उन्हें इस बात की कभी परवाह न रही कि कौन कितना बड़ा या छोटा है। अपने मूल्यनिर्मित निकष पर घर्षण करने पर जिस लेखक की जैसी रेखा और चमक बनती, उसी का निष्कर्ष वे उपस्थित कर देते। 'गुप्त जी की जयंती' ('मदारी', अगस्त 1936) में उनकी यह अकुतोभय उक्ति आज पुनर्विचारणीय बनने लगी है, ''कुछ लोग इस सिलसिले में 'भारत-भारती' का नाम लेने का कभी-कभी दुस्साहस कर बैठते हैं, परंतु यह बात मान ली गई है कि वह हाली के 'मुसद्दस' की बुरी नकल है और कवित्व में भी उसके आगे फीकी है। और फिर उसमें राष्ट्रीयता की भावना का तो कहीं अंकुर तक दिखाई नहीं देता। ऐसी दशा में गुप्त जी को राष्ट्रीयता का कवि मानना बड़ी धृष्टता की बात है। खेद की बात है कि वही धृष्टता हिंदी में आज खुले बाजार की जा रही है, जिससे यह प्रकट होता है कि हिंदी वालों में सुरुचि तथा विवेक का भी अभी तक अभाव है।'' इस उक्ति में चुनौती है, जिसे खारिज कर देना सहसा संभव नहीं। शुक्ल जी वीरपूजा, महिमा-मंडन, निराधार स्तुति एवं अतिशयोक्तिपूर्ण यशस्ति-प्रशस्ति के सर्वथा विरुद्ध थे। वे आलोचना को खुली जमीन पर खड़ा करते रहे।

इसी व्यक्ति-पूजा के विरुद्ध अपने आलोचनात्मक अभियान में पंडित शुक्ल ने 'साहित्य-सेवक या साहित्य-बेंचक' ('मदारी', सितंबर, 1936) शीर्षक निबंध में पंडित रामनरेश त्रिपाठी की शल्यचिकित्सा की है, ''कोइरीपुर के निवासी और प्रयाग के प्रवासी पंडित रामनरेश त्रिपाठी किस श्रेणी के व्यक्ति हैं, इसका परिचय उन्होंने 'भारत' में भली प्रकार दे दिया है। त्रिपाठी जी को इस बात का अभिमान है कि वे ऊंची सोसायटी के आदमी हैं। यहां तक कि वे संसार-पूज्य महात्मा गांधी तक के पार्श्ववर्ती तथा कृपापात्र होने का दावा करते हैं। और इस दावे का उन्होंने अपने इस लेख में उल्लेख भी किया है।....अभी हाल में उन्होंने रामचरितमानस का एक नया सटीक संस्करण छपवाया है। दुर्भाग्य से कलकत्ता के पंडित अंबिका प्रसाद वाजपेयी ने उसकी खरी समालोचना 'विशाल भारत' में छपवा दी। बस, फिर क्या था! त्रिपाठी जी जामे से बाहर हो गए और प्रयाग के टोडीबच्चा 'भारत' के द्वारा साहित्य-सेवा का व्याघ्र चर्म ओढ़कर जो भयानक गर्जन-तर्जन शुरू किया, उससे उनकी असलियत भली प्रकार प्रकट हो गई।....त्रिपाठी जी की जगविख्यात अहम्मन्यता, उनकी प्रोपेगेंडाप्रियता, उनकी साहित्य-रसिकता एवं व्यापार-कुशलता किसे नहीं ज्ञात है।....वे (पंडित अंबिका प्रसाद वाजपेयी) जानते ही हैं कि यह मिडिलची साहित्यिक कितने गहरे पानी का है और लोकनेताओं, साथ ही राजा-रईसों का यह चारण अपनी साहित्यिकता का कितना दंभ करता रहता है।''

इस क्रोध और कटूक्ति के दो कारण थे। एक तो यह कि त्रिपाठी जी की पुस्तक वस्तुतः कमजोर थी। दूसरे, पिता की आयु के वाजपेयी जी पर त्रिपाठी जी ने लिखित रूप में आक्षेपपूर्ण टिप्पणी की थी। इस स्वैराचार और अहम्मन्यता के विरुद्ध शुक्ल जी खड्गहस्त हो गए। शुक्ल जी आचार्य द्विवेदी के अभयारण्य में निर्मित पत्रकारिताश्रम में पूर्णतः प्रशिक्षित होने के साथ अपनी अलग क्षमता तथा सामर्थ्य भी रखते थे। इनके अपने भी तीर और तेवर थे। इसलिए दुर्मुखता के स्तंभन और स्वैराचार के उच्चाटन के लिए तांत्रिक एवं तंत्रज्ञ पंडित देवीदत्त शुक्ल ने तंत्रशक्ति की तरह शब्द-शक्ति का प्रयोग किया है। इसका असर भी ऐसा ही हुआ।

'संपादकों से अनुरोध' ('मदारी', सितंबर, 1936) निबंध में उन्होंने संपादकों को उनके सात्विक दायित्व का स्मरण दिलाते हुए लिखा है, ''विशुद्ध साहित्य के प्रकाशकों को प्रोत्साहन देना, उनकी विज्ञप्ति करना, उनके द्वारा प्रकाशित सद्ग्रंथों का जनता को परिचय देते रहना हिंदी के संपादकों का एक कर्तव्य माना जा सकता है, परंतु अपने ऐसे कर्तव्य का पालन करने वाले संपादक शायद हिंदी में नहीं के बराबर हैं।''

'हिंदी में धींगा-धींगी' ('मदारी', सितंबर, 1936) निबंध में उन्होंने आक्षेप प्रत्याक्षेप के प्रसार पर क्षोभ व्यक्त करते हुए आलोचनात्मक वक्तव्य का संदर्भ भी उपस्थित किया है, ''प्रसाद, निराला और पंत ये तीन इस समय के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं, पर इनकी रचनाओं की कमाई खाने वाले लोग धड़ेबंदी बनाए एक-दूसरे की निंदा करवाने में रात-दिन जुटे रहते हैं। यह तमाशा देखकर इनसे 'सीनियर' कवि—हरिऔध, मैथिलीशरण अपनी-अपनी फिक्र में लग गए हैं और उनके पक्ष के लोग अपने-अपने अखाड़े अलग खोल बैठे हैं। इस तरह एक कविता के क्षेत्र में इस समय चौमुखी लड़ाई छिड़ी हुई है। यह सब क्या हो रहा है?''

'अभिनंदन का तमाशा' ('मदारी', अक्तूबर, 1936) निबंध में शुक्ल जी ने अभिनंदन-ग्रंथों के प्रकाशन तथा अभिनंदन-समारोह के आयोजन की सार्थकता-निरर्थकता पर विचार किया है। वे लिखते हैं, ''सबसे पहले बाबू शिवपूजन सहाय ने हिंदी में 'अभिनंदन-ग्रंथ भेंट करने की बात उठाई थी। उन्हीं ने इस बात का प्रस्ताव किया था कि पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी को काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा एक अभिनंदन-ग्रंथ भेंट कर उनकी बहुकाल व्यापी साहित्य-सेवा के लिए उनका अभिनंदन करे। उस समय तक भारत में पंडित मदन मोहन मालवीय और श्रीयुत रवींद्रनाथ ठाकुर को ही ऐसे अभिनंदन-ग्रंथ भेंट किए गए थे।''

'हिंदी पर संकट' ('मदारी', नवंबर, 1936) नामक पंडित शुक्ल का एक महत्वपूर्ण लेख छपा। आधुनिक साहित्येतिहास-लेखक तथा निष्पक्ष विचारक अब इस बात से सहमत होने लगे हैं कि हिंदी को राजभाषा के पद पर आनीत करने वाले साधकों में पंडित देवीदत्त शुक्ल का नाम अग्रपांक्तेय है। इस निबंध में उन्होंने लिखा है, ''और तो और जिन लोगों ने उसे राष्ट्रभाषा स्वीकार किया था, वही आज यह प्रयत्न कर रहे हैं कि 'हिंदी', 'हिंदुस्तानी' हो जाए और हिंदी वाले 'राम' को 'रहीम' और 'धर्म' को 'मजहब' लिखा करें। इस तरह वे हिंदी को 'वर्णसंकरी' भाषा बना डालना चाहते हैं।....राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद ने भी ऐसा ही प्रयत्न एक बार पहले किया था, परंतु बाबू हरिश्चंद्र ने उनके सारे प्रयत्नों को बेकार कर दिया, यहां तक कि उसके लिए उन्होंने अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया।....परंतु हिंदी आत्महत्या करने को तैयार न होगी। उसकी भी अपनी संस्कृति है।....संसार में एक हिंदी ही ऐसी भाषा है, जो एकमात्र सर्वसाधारण के सहारे पर जीवित रही है।''

1903 के मार्च अंक की 'सरस्वती' में अपनी निर्भांत भाषा-टिप्पणी के माध्यम से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने घोषणा की थी कि उर्दू को स्वतंत्र भाषा मानना भाषा-विज्ञान-सम्मत नहीं। यह केवल राजनीति प्रेरित है। 'भाषा' होने के लिए उसमें अपनी स्वतंत्र क्रियाएं और विभक्ति-चिन्ह होने चाहिएं। उर्दू के पास इन दोनों में एक भी अपना नहीं। 'संज्ञा' से भाषा नहीं बनती। संज्ञाएं तो कहीं से आ सकती हैं। द्विवेदी जी के इस अभिमत को पंडित शुक्ल ने अग्रसारित और लोक प्रचालित किया। उर्दू हिंदी में अंतर्भुक्त और अनुस्यूत है। यह हिंदी की शैली है।

आज वर्तमान समय में उर्दू के विकृत राजनीतिक रूप पर विचार करें तो अनेक तथ्य उपस्थित होंगे। इन पंक्तियों के लेखक ने एकाधिक स्थलों पर इस संबंध में जो लिखा है, उसका सार-संक्षेप इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है, ''भारत के सभी मुसलमान उर्दू नहीं जानते, न ही सभी उर्दू भाषी मुसलमान हैं, इसलिए उर्दू को धर्म से जोड़कर देखना अज्ञान है।....क्रियापद तथा विभक्ति-राहित्य के कारण भाषा-वैज्ञानिक तर्क पर उर्दू स्वतंत्र भाषाधिकार की अधिकारिणी नहीं है।....उर्दू हिंदी में अंतर्भुक्त है।....हिंदु और मुसलमान दोनों आर्य हैं। मध्य एशिया से भारोपीय भाषा-समूह का जो यायावरमंडल चला, उसी के कतिपय सदस्य दरद, ईरान और भारत में आ बसे। अतः हिंदु

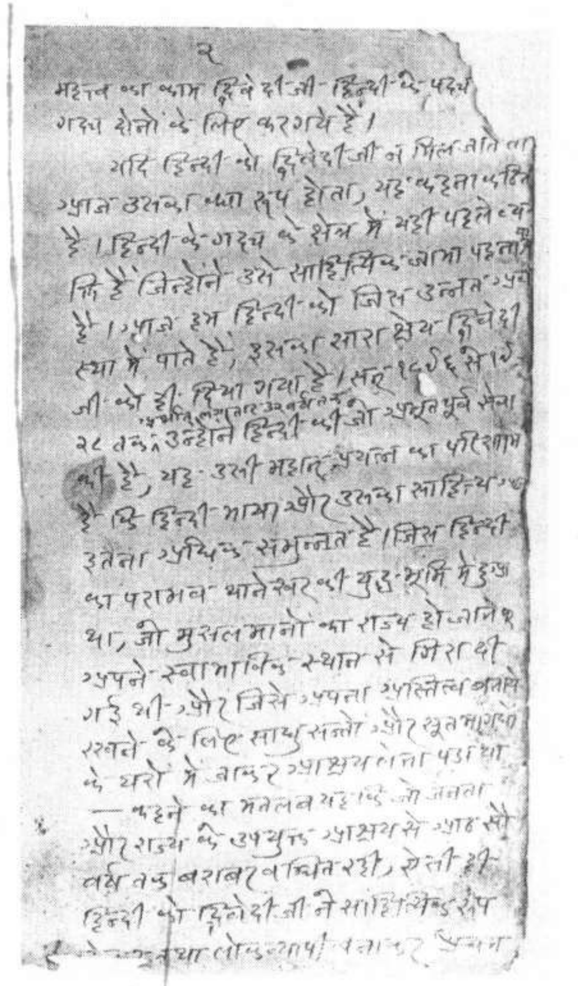

२
महत्व का काम द्विवेदी जी हिन्दी के पद्य
गद्य दोनों के लिए कर गये हैं।
यदि हिन्दी को द्विवेदी जी न मिल जाते तो
आज उसका क्या रूप होता, यह कहना कठिन
है। हिन्दी के गद्य के क्षेत्र में [illegible]
[illegible] हैं जिन्होंने उसे साहित्यिक [illegible]
है। आज हम हिन्दी को जिस उन्नत अव-
स्था में पाते हैं, इसका सारा श्रेय द्विवेदी
जी को ही दिया गया है। सन् १९०६ से १९-
२८ तक उन्होंने हिन्दी की जो अभूतपूर्व सेवा
की है, यह उसी महान् प्रयत्न का परिणाम
है कि हिन्दी भाषा और उसका साहित्य आज
इतना अधिक समुन्नत है। जिस हिन्दी
का पराभव थानेश्वर की युद्ध भूमि में हुआ
था, जो मुसलमानों का राज्य हो जाने पर
अपने स्वाभाविक स्थान से गिर [illegible]
गई थी और जिसे अपना अस्तित्व बनाये
रखने के लिए साधु सन्तों और सूत मागधों
के घरों में जाकर आश्रय लेना पड़ा था
— कहने का मतलब यह कि जो जनता
और राज्य के उपयुक्त आश्रय से आठ सौ
वर्ष तक बराबर वंचित रही, ऐसी ही
हिन्दी को द्विवेदी जी ने साहित्यिक रूप
[illegible] तथा लोकव्यापी बनाकर [illegible]

'शुक्ल जी की हस्तलिपि में लिखित आचार्य द्विवेदी जी की आत्मकथा का एक पृष्ठ

और मुसलमान में शोणित-संबंधन है। धर्म ने इन्हें विभाजित किया है। अब भाषाधार पर विभाजन अनीतिपूर्ण है।''

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के द्वारा निर्णीत-निर्धारित विचार पंडित देवीदत्त शुक्ल के द्वारा और स्पष्टता से व्याख्यात और आधुनिक काल में भाषाशास्त्र-दृष्टि से प्रख्यापित हुआ है। पंडित शुक्ल के विचार आज हमें इस चिंतन पर पुनरीक्षण एवं अंतरीक्षण के लिए प्रेरित करते हैं।

'गीताधर्म और गुप्त जी' ('मदारी', जनवरी, 1937) शीर्षक निबंध में शुक्ल जी ने प्रक्षेपित लेखकों और उछाली गई कृतियों पर अपना मत-सम्मत देते हुए लिखा है, ''अच्छे कवि के लिए सम्मतियों का लिखना अच्छा नहीं। किसी सत्कवि की कृति कभी सम्मति की अपेक्षा नहीं करती।''

'चौबे जी की लीला' ('मदारी', फरवरी, 1937) शीर्षक निबंध में शुक्ल जी ने पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी के दायित्वहीन लेखन पर प्रहार किया है। वे लिखते हैं, ''पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी हिंदीवालों के लिए पहेली-सी बने हुए हैं।...उनके लिखने में और कोई सार बात नहीं रहती।....प्रारंभ में उन्होंने उग्र को अपना शिकार बनाया था, फिर निराला और चतुर्सेन शास्त्री को रगड़

देने का उपक्रम किया। परन्तु इन संघर्षों में उनकी जो तुर्की-ब-तुर्की जवाब मिले, उनसे अंत में उनका रहस्य लोगों को मालूम हो गया।" यहां 'तुर्की-ब-तुर्की' मुहावरे का अनोखा प्रयोग दर्शनीय है।

शुक्ल जी के व्यंग्य में भी साहित्य का जो शैली-सौंदर्य है, उसकी अनुकरणीयता आज भी बनी हुई है। 'लंहगहे साहित्यिक' ('अभ्युदय' अप्रैल, 1934) में उन्होंने लिखा, "इन रंगे सियारों के मारे वास्तव में हिंदी-साहित्य आगे नहीं बढ़ पाता। और ये समय-असमय में अपनी अमंगल वाणी बोला ही करते हैं।....हिंदी के प्रबुद्ध साहित्यकारों का यह कर्तव्य है कि वे इन लंहगहों का भांडाफोड़ करें और घूंघट के भीतर चुपचाप लटकन चबाते रहने की इनकी मनोवृत्ति का पर्दाफाश करें।....इनके असली रूप का परिचय सर्वसाधारण को दें, ताकि वे जान लें कि यह मुहम्मदशाह रंगीले का जमाना नहीं, किंतु गांधी-युग है।"

पंडित देवीदत्त शुक्ल की प्रतिभा का सर्वाधिक तेजोमय रूप 'संपादक' के क्रियाकलापों में मिलता है। उन्होंने चार पत्रिकाओं का संपादन किया था—'बालसखा' का संपादन 1919 से 1920 तक, 'सरस्वती' का संपादन 1921 से 1946 तक, 'चंडी' का संपादन 1942 से 1971 तक। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'कान्यकुब्ज' का भी संपादन किया था। इन पत्रिकाओं के संपादन-क्रम में पंडित शुक्ल सात सौ लेखकों के प्रत्यक्ष संपर्क में आए। संपूर्ण देश की हिंदी-पत्रकारिता पर इनके वक्तव्य, संपादकीय तथा सम्मति का प्रभाव था। फिर भी, 'सरस्वती'—संपादक के रूप में शुक्ल जी का महत्व सर्वोपरि है। शुक्ल जी ने अपनी पुस्तक 'संपादक के पचीस वर्ष' में 'सरस्वती'—संपादन-काल की नेपथ्य-गाथा जिस साफगोई, शिल्पन और प्रांजल शैली में उपस्थित की है, वह आज भी अन्यतम है। यह हिंदी की पहली सर्वांगीण पत्रकारिता-पुस्तक है। इसे आग्रहपूर्वक लिखवा लेने का श्रेय उनके सुपुत्र 'कुलभूषण' पंडित रमादत्त शुक्ल को है। इसका प्रकाशन 1956 ई. में हुआ। कालांतर में उत्तर प्रदेश शासन ने इस पुस्तक पर छः सौ रुपये का पुरस्कार प्रदान किया था।

1942 ई. में पंडित जी ने भारतीय तंत्रविद्या तथा अध्यात्म की पत्रिका 'चंडी' को जन्म दिया। बंगाल के निवासी महान कौलाचार्य पंडित शिवचंद्र विद्यार्णव महाराज ने आधुनिक काल में गुप्त तथा लुप्तप्राय तंत्रविद्या का पुनरुद्धार बंगला भाषा में विपुल वाङ्गमय उपस्थित कर किया था। उन्हीं के शिष्य और कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधिपति सर जॉन वुडरफ (आर्थर एवलॉन) ने अंग्रेजी में तांत्रिक वाङ्गमय का प्रभूत पुनराख्यान एवं प्रख्यापन किया। हिंदी के विशाल क्षेत्र में इस शास्त्र की परिचर्चित पूर्णता से नहीं थी। इस अभाव की पूर्ति 'चंडी' पत्रिका के माध्यम से की जाने लगी। इस क्रम में पंडित जी अनेक तंत्रसिद्ध साधकों के सन्निकटन में आए। वे स्वयं भी एक पूर्णशाक्ताभिषिक्त सिद्ध साधक थे।

'बालसखा' के संपादन-क्रम में उन्होंने बाल-साहित्य को हिंदी में सबसे पहले समृद्ध किया। 'कान्यकुब्ज' के संपादन-क्रम में उन्होंने अनेक रूढ़ियों का खंडन और समेकित भारतीय संस्कृति

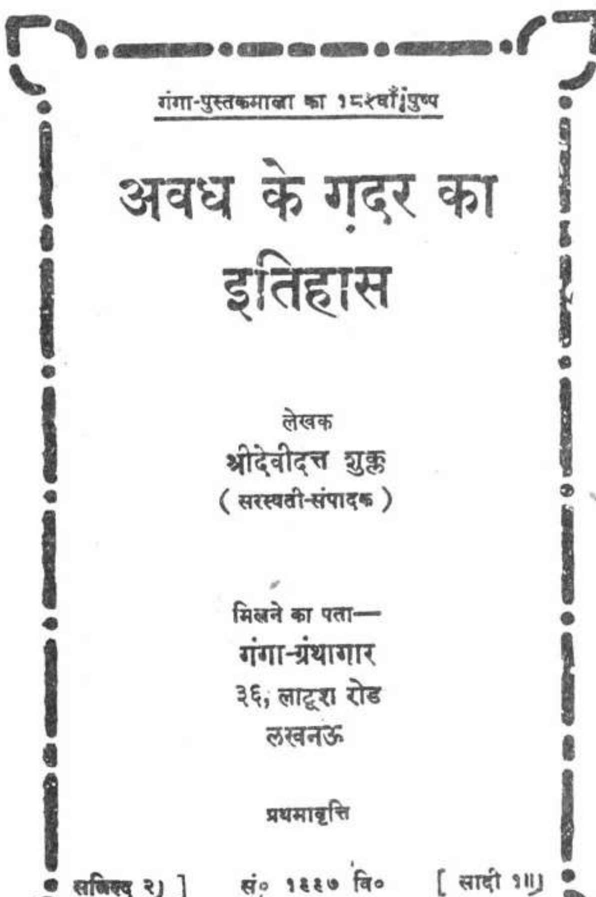
गंगा-पुस्तकमाला का १८२वाँ पुष्प

अवध के ग़दर का इतिहास

लेखक
श्रीदेवीदत्त शुक्ल
(सरस्वती-संपादक)

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, लाटूश रोड
लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिल्द २)] सं० १९९७ वि० [सादी १॥)

को उज्जाग्रत करने का सत्प्रयत्न किया। इस प्रकार 'सरस्वती' के माध्यम से भाषा एवं साहित्य, 'चंडी' के माध्यम से तंत्रविद्या एवं अध्यात्मशास्त्र, 'बाल सखा' के माध्यम से बाल-साहित्य एवं बाल-मनोविज्ञान तथा 'कान्यकुब्ज' के माध्यम से संस्कृति एवं राष्ट्रीयता के शताधिक पक्षों का उन्होंने शतावधान पुनरुद्धार एवं समृद्धि विस्तार किया।

पंडित देवीदत्त शुक्ल एक साहित्यकार भी थे। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की थी। उनकी ग्रंथकृतियां हैं—संपादक के पचीस वर्ष, कुछ खरी-खरी, अवध के गदर का इतिहास, स्वाधीनता के पुजारी, क्रांतिकारी, एक आत्मकथा, जापान का हाल, कालरात्रि, एकादशी, पकौड़ीवाला; बाल-कविता, द्विवेदी-काव्यमाला। इनके अतिरिक्त तंत्रविद्या, अध्यात्मदर्शन तथा धर्मानुष्ठान से संबद्ध उनके प्रकाशित ग्रंथ हैं—वाम मार्ग, सप्तशती (हिंदी अनुवाद), हिंदुओं की पोथी, चक्रपूजा, चक्रपूजा के स्रोत, मंत्र-सिद्धि का उपाय, साधक का संवाद, धर्ममार्ग पर, चंडिका-महात्म्य, विनयसुधा, कौल-कीर्तन, शाक्तधर्म क्या है, क्रमदीक्षापूर्वक पूर्णाभिषेक, नवरात्र पूजापद्धति, भैरवीचक्र-पूजन, मानसपूजन। इनके अतिरिक्त अभी अनेक पांडुलिपियां प्रकाशन-प्रतीक्षा में पड़ी हैं तथा अनेक निबंधादि ग्रंथाकार-प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं। इनमें अभी चार ग्रंथों के तत्काल प्रकाशन की घोषणा शुक्ल जी के योग्य उत्तराधिकारी

आत्मज और 'चंडी') के संपादक 'कुलभूषण' पंडित रमादत्त शुक्ल ने की है। वे चारों घोषित ग्रंथ हैं—संपादक के संस्मरण, संपादक के पत्र, संपादक के विचार तथा संपादक का आध्यात्मिक उद्‌बोधन।

पंडित देवीदत्त शुक्ल का जन्म विक्रमी संवत् 1945, वैशाख कृष्ण, शनिवार 3 तारीख को और निधन गुरुवार, 20 मई, 1971 ई. को हुआ। इस प्रकार चौरासी वर्षों के दीर्घायुष्य के साथ उन्होंने हिंदी-जगत तथा तंत्र-विद्या की विविध सेवाएं कीं। 1948 ई. में पंडित शुक्ल के मोतियाबिंद की शल्यचिकित्सा हुई, जो दुर्भाग्यवश असफल सिद्ध हुई। परिणामतः पंडित शुक्ल पूरी तरह दृष्टिहीन हो गए। उन्होंने 13/14 वर्षों का जीवन दृष्टिहीनता के साथ व्यतीत किया है। फिर भी, उनके भीतर मुमूर्षा का कोई भाव उद्रिक्त नहीं हुआ। वे जिजीविषा के विजेता-पुरुष थे।

आज लेखक-प्रकाशक तथा संपादक-स्वामी को लेकर अनेक विचारणीय बिंदु विवेचित हो रहे हैं, परंतु इन कटुता-कथित संबंधों के बीच बंगभाषी श्रीचिंतामणि घोष के स्वामित्व में संचालित प्रयाग-स्थित इंडियन प्रेस और उसके तत्वावधान में प्रकाशित 'सरस्वती' के संपादक पंडित देवीदत्त शुक्ल के मध्य सदैव स्नेह तथा सद्‌भाव बना रहा। इस तथ्य तथा सत्य का समर्थन करते हुए वयोवृद्ध पत्रकार ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने 11 जुलाई, 1987 को प्रयाग में इंडियन प्रेस में आयोजित 'श्री शुक्ल जन्मशताब्दि वर्ष' तथा स्मृति-ग्रंथ लोकार्पण-समारोह में बोलते हुए ठीक ही कहा था, ''यदि इंडियन प्रेस को मानव-शरीर माना जाए तो शुक्ल जी उसके प्राणस्वरूप थे। जब मैं 1930 ई. में स्वतंत्रता-आंदोलन में भाग लेने के कारण गिरफ्तार हो गया तो शुक्ल जी के कारण मेरा नाम सहायक संपादक के रूप में तब भी छपता रहा। मेरा सारा कार्य शुक्ल जी स्वयं करते थे और मेरा पूरा वेतन मेरे घर भिजवा देते थे। आज किसी संपादक से ऐसे व्यवहार की कल्पना भी नहीं की जा सकती।''

पंडित देवीदत्त शुक्ल का जन्म उत्तर प्रदेश के बक्सर (व्याघ्रसर) के 'बैसवारा' (बाईसवारा, द्वाविंशतिवारम्) क्षेत्र में हुआ था। इस स्थान को 'छोटी काशी' तथा वाराणसी को 'बड़ी काशी' के नाम से जाना जाता है। बैसवारा ऐतिहासिक क्षेत्र रहा है। यहां अमर शहीद राव रामबख्श सिंह हुए, जिनका बलिदान-दिवस प्रतिवर्ष 28 दिसंबर को यहां आज भी मनाया जाता है। इसी भूमिखंड पर नरकेसरी बेनीमाधव और सुखदेव मिश्र हुए। यहीं पंडित देवीदत्त शुक्ल, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और मलिक मुहम्मद जायसी का जन्म हुआ। इसलिए इस भूमिखंड का ऐतिहासिक महत्व है। कालांतर में पंडित शुक्ल ने प्रयाग को ही कर्मभूमि के रूप में स्वीकार कर लिया। आज भी प्रयाग में पंडित शुक्ल के सुपुत्र 'कुलभूषण' पंडित रमादत्त शुक्ल का निवास—संकेत है: **शाक्तसाधना केंद्र, कल्याणमंदिर, 'चंडी' कार्यालय, अलोपीबाग मार्ग, इलाहाबाद-211006 (उ. प्र.)।**

साहित्येतिहासकार तथा चिंतकों ने स्वीकार किया है कि पंडित शुक्ल ने हिंदी-गद्यावतरण की शैशवावस्था को संतुलित तथा ओषधिशास्त्रसम्मत संपोषण के माध्यम से सबल-सचल-सवाक् बनाया है। डाक्टर रामकुमार वर्मा ने 'श्रीशुक्ल-शताब्दि-समारोह' के अवसर पर 11.7.87 को प्रयाग में 'सम्पादक के संस्मरण' ग्रंथ का विमोचन करते हुए कहा था, ''स्वर्गीय शुक्ल जी ने हिंदी-भाषा को, उसकी शैशवावस्था में चलना और दौड़ना सिखाया। जिस तन्मयता के साथ उन्होंने हिंदी के लिए कार्य किया, यदि आज भी उसी तन्मयता के साथ हिंदी को आगे बढ़ाया जाए तो वह दिन दूर न होगा, जब हिन्दी का अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना एक स्थान होगा।''

अपने संपूर्ण जीवन में पंडित देवीदत्त शुक्ल ने हिंदी की बहुविध सेवा की है। साहित्य के प्रांगण में वे हिंदी धर और साधना के धरातल पर विदग्धवाक् थे।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
हिंदी विभाग, पटना कालेज,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

रात क्यों उदास है

संदीप तिवारी

कोलाहल करता हुआ बीत गया दिन
चहल-पहल करती हुई बीत गई शाम
रात क्यों उदास है?

दिन भर तो द्वन्द्व चला
अपनों से, गैरों से
सत्य लड़ा पैदल,
तो झूठ बिना पैरों के

खेत रहे अपने ही अन्दर कितने अनाम
बीती अवसादों से बोझिल अंसुआई शाम
रात यों उदास है?

चेहरे पहचाने से
रूठे से, माने-से
कुछ इतने धुंधलाए
कि याद रहे आने से

साथ चले थे पग दो, याकि दो-चार गाम
थके नहीं हम लेकिन उतर पड़ी थकी शाम
रात यों उदास है?

उम्र एक पहेली है
जीवन अठखेली है
होगी किन्हीं के लिए
मैंने तो झेली है

मतलब-बेमतलब जब तलब हुआ मेरा नाम
उस दिन उदास-अनमनी-सी ढली शाम
रात यों उदास है!

सरस्वती तक का सफ़र....

सविता चड्ढा

पं. देवीदत्त शुक्ल सन् 1913 से 1920 तक लेखक एवं सन् 1921 से 1946 तक 'सरस्वती' के सम्पादकीय विभाग से संबद्ध रहे। सन् 1945 में देवीदत्त जी की दृष्टि शक्ति ने जवाब दे दिया तथा इस दौरान इन्होंने 'सरस्वती' के लिए केवल संपादकीय नोट ही लिखे। सन् 1947 में जब नेत्र चिकित्सा से भी इन्हें कोई लाभ नहीं हुआ तो इन्हें 'सरस्वती' के संपादन के कार्यभार से मुक्त कर दिया गया। इन्होंने अपनी पुस्तक 'संपादक के 25 वर्ष' में अपने जीवन एवं 'सरस्वती' से संबंधित घटनाओं का वर्णन बड़े ही सरल एवं सहज ढंग से किया है। इनके अनुसार इन्होंने पहले पहल अखबार के दर्शन सन् 1904 में किए। कार्तिक का मेला देखने वे अपने गांव के पं. परमेश्वर दीन बाजपेयी के साथ गए थे, उसी मेले में डाकिए ने एक पैकेट पं. बाजपेयी को दिया जिसे देवीदत्त जी ने पकड़ लिया। जब इन्होंने उसे खोलकर देखा तो उसमें उस समय का 'भारतमित्र' अखबार था। उसी अखबार में एक लेख था जो डकैती के संबंध में था और जिसमें एक स्त्री को चलती गाड़ी में से उठा लिए जाने की बात भी कही गई थी, लेकिन यह लेख अधूरा था। बस उसी दिन से वे अखबारों की ओर आकृष्ट हो गए। तब शुक्ल जी छठी कक्षा के छात्र थे। इसके बाद इन्होंने 'भारतमित्र' मंगाना और पढ़ना शुरू कर दिया। तब यह नहीं जानते थे कि आगे चलकर इन्हें अखबारनवीसी को ही अपनाना होगा। थोड़े दिनों बाद और बच्चों के साथ मिलकर एक टोली बना ली और देश में चल रहे उस वक्त के आन्दोलन की पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए कई पत्र जैसे 'हिन्द केसरी', 'हिन्दी ग्रंथावली', 'ब्राह्मण सर्वस्व' तथा 'अभ्युदय' मंगाने लगे।

हिन्दी पढ़ने का शौक तो इन्हें बचपन से ही था लेकिन एक बार पं. परमेश्वर दीन बाजपेयी अपने साथ 'चन्द्रकांता' उपन्यास ले आए तो शुक्ल जी ने एक ही दिन में पढ़ डाला। इसके बाद इनमें हिन्दी उपन्यास पढ़ने में रूचि जागृत हुई जो ज्यादा समय तक नहीं चल सकी क्योंकि उस काल के उपन्यास इन्हें रुचिकर नहीं लगे, हां बंकिम बाबू के उपन्यास इन्हें अवश्य पसन्द आए।

हिन्दी पढ़ने और लिखने की रुचि के बारे में इन्होंने स्वीकार किया है कि इनके घर में इनकी चचेरी बहन और इनकी चाची भी कविता लिखती थीं। अतः इस सब का प्रभाव भी शुक्ल जी पर पड़ा। इनके बड़े भाई भी कवि थे और ये सब मिलकर कविता आदि कहते और सुनाते थे तो शुक्ल जी इन सबसे दूर कैसे रह सकते थे।

इनके एक सहपाठी श्री हरिदास माणक ने उन दिनों धूम मचाई हुई थी। माणक जी का इन पर काफी प्रभाव पड़ा। हालांकि उस समय उन्हें कोई पथ प्रदर्शक नहीं मिला था परन्तु इन्होंने कुछ लेख लिखे जो बिना परिवर्तन के ज्यों के त्यों छप गए। एक छपा था 'भारतमित्र' में और दूसरा लेख 'हिन्दी बंगवासी' में। ये बातें सन् 1908 की हैं।

इन लेखों के छपने से इन्हें बल मिला। उन दिनों प्रो. उनवाला ने एक जगह हिन्दी की कविता रचना की प्रणाली पर भाषण दिया और पद्य रचना में मात्राएं कैसे बिठाई जाएं इस बारे में भी बताया। उनके भाषण से शुक्ल जी प्रभावित हुए और इन्होंने कविता लिखने की सोची। तत्पश्चात इन्होंने कविताएं लिखीं और वे प्रकाशित भी हुईं।

जिन दिनों शुक्ल जी काशी में पढ़ते थे वे हिन्दी उपन्यास लिखने की ओर प्रवृत्त हुए। उनके एक सहपाठी पं. रामप्रसाद त्रिपाठी ने उन दिनों एक उपन्यास लिखकर छपवाया था जो शुक्ल जी को काफी पसन्द आया लेकिन चाहकर भी ये उपन्यास लेखन की अपनी इच्छा को पूरा न कर सके। काशी में रहते हुए ही इन्होंने 'सरस्वती' देखी और यह जान पाए कि यह पत्रिका ऊंचे दर्जे की साहित्यिक पत्रिका है। प्रतिदिन पुस्तकालय में जाकर इन्होंने 'सरस्वती' पढ़ना शुरू कर दिया।

शुक्ल जी एफ. ए. करना चाहते थे लेकिन जब नहीं कर सके तो इन्होंने नौकरी करने का विचार किया। तब तक साहित्य इनके दिमाग में अपना घर बना चुका था। इन्होंने 'भारतमित्र' और अभ्युदय' आदि के संपादकीय विभाग में नौकरी के लिए प्रार्थना पत्र भेजे लेकिन पद रिक्त न होने के कारण इन्हें वहां नौकरी नहीं मिली। चूंकि नौकरी के लिए ये बहुत चिन्तित थे इसलिए एक सज्जन की सहायता से इन्हें ट्रैफिक सुपरिंटेंडेंट के दफ्तर में नौकरी मिल गई। ये नौकरी बस 15 दिन तक ही चली। इन्हीं सज्जन ने शुक्ल जी को पुलिस के दफ्तर में नौकरी दिला दी। परन्तु इन्होंने वहां न जाकर स्कूल मास्टर बनकर गोरखपुर जाना अधिक पसन्द किया। बाद में इन्होंने अलवर में प्रार्थनापत्र भेजा जो स्वीकार कर लिया गया और ये तिजारा के स्कूल में नियुक्त हो गए। बाद में इनके परिवार के सदस्यों ने इन्हें वहां से नौकरी छोड़ देने को कहा और इन्होंने अपने चाचा जी के कहे अनुसार दक्षिण जाकर महा समुंद (रायपुर) के एक स्कूल में नौकरी कर ली। इसी बीच इनके द्वारा लिखे लेख व कविताएं पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहे। इनका उत्साह बढ़ता रहा और बाद में इन्होंने 'सरस्वती' के संपादक को अंग्रेजी लेखों का अनुवाद करके भेजा जिसे 'सरस्वती' में प्रकाशित भी कर दिया गया और उस समय के 'सरस्वती' के संपादक आचार्य द्विवेदी जी ने इन्हें बार-बार लिखने की सलाह भी दी।

एक बार गर्मी की छुट्टियों में जब ये अपने घर आए तो इनके चाचाजी की ओर से इन्हें नौकरी पर जाने से मना करने का पत्र प्राप्त हुआ। शुक्ल जी सदैव बड़ों के आज्ञाकारी थे अतः इन्होंने गांव में रहना ही स्वीकार कर लिया। 4-6 दिन के बाद इनके

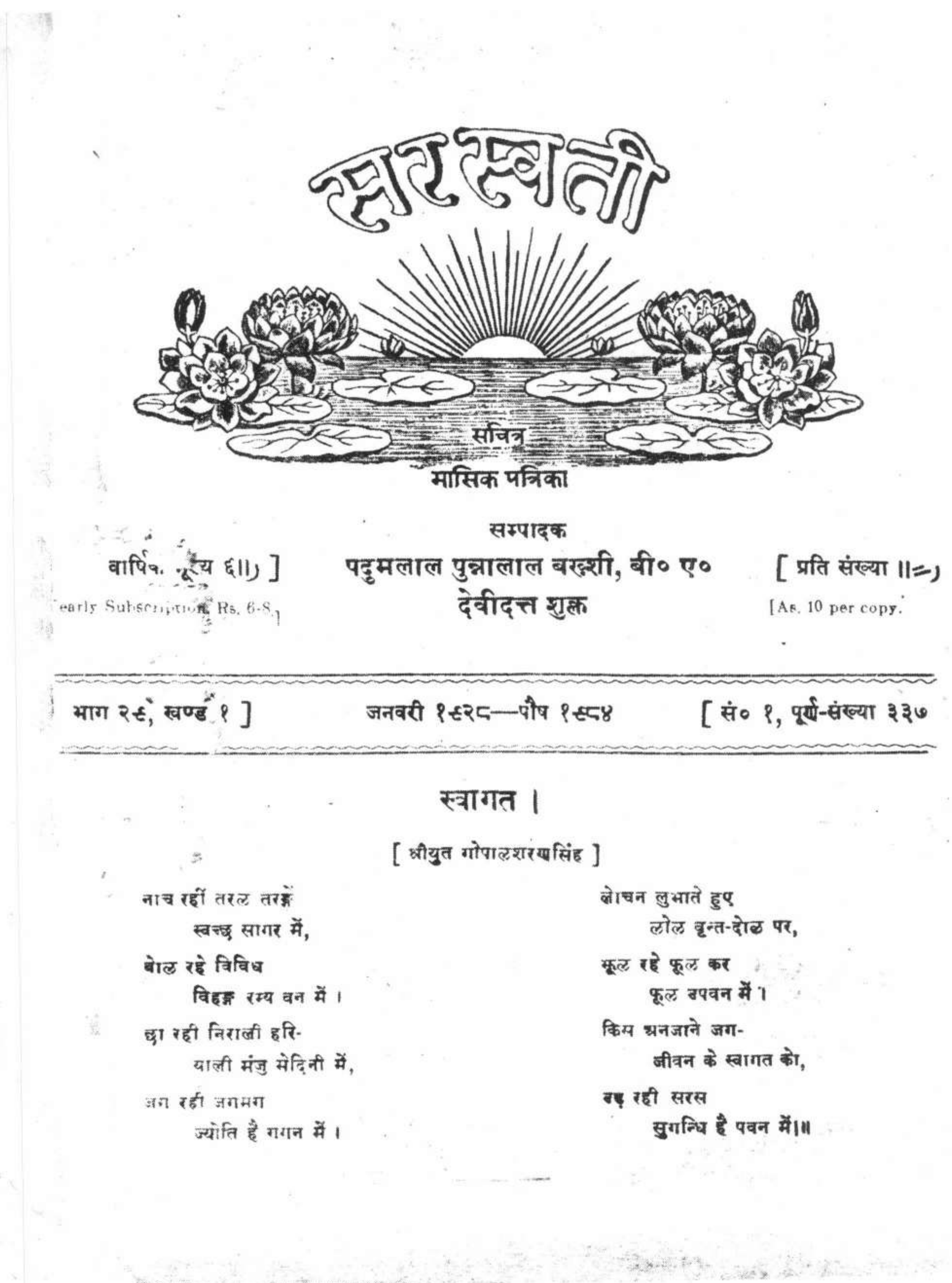

सरस्वती

सचित्र
मासिक पत्रिका

सम्पादक

वार्षिक मूल्य ६।।)] पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी, बी० ए० [प्रति संख्या ।।=)

Yearly Subscription Rs. 6-8] देवीदत्त शुक्ल [As. 10 per copy.

भाग २९, खण्ड १] जनवरी १९२८—पौष १९८४ [सं० १, पूर्ण-संख्या ३३७

स्वागत।

[श्रीयुत गोपालशरणसिंह]

नाच रहीं तरल तरङ्गें
स्वच्छ सागर में,
बोल रहे विविध
विहङ्ग रम्य वन में।
छा रही निराली हरि-
याली मंजु मेदिनी में,
जग रही जगमग
ज्योति है गगन में।

लोचन लुभाते हुए
लोल वृन्त-दोल पर,
फूल रहे फूल कर
फूल उपवन में।
किस अनजाने जग-
जीवन के स्वागत को,
बह रही सरस
सुगन्धि है पवन में॥

जनवरी 1928 अंक की 'सरस्वती' पत्रिका का मुखपृष्ठ

चाचा भी गांव आ गए। उन दिनों इनके चाचा जी का स्वास्थ्य अच्छा था परन्तु अंत समय वे सबके साथ मिलकर घर रहना चाहते थे। उन दिनों प्रथम महायुद्ध छिड़ गया। शुक्ल जी अखबार पढ़कर उन्हें सुनाया करते थे। पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का गांव दौलतपुर इनके गांव के समीप ही था। वहीं से ही प्रातः इन्हें समाचार पत्र मिल जाया करते। अंत समय तक शुक्ल जी के चाचा जी स्वस्थ रहे। एकाएक उन्हें सन्निपात का रोग हुआ और शीघ्र ही उनका देहान्त हो गया। शुक्ल जी ने अपने बड़े भाई से पुनः नौकरी पर जाने का अनुरोध किया तो उन्हें आदेश हुआ कि घर पर ही रहें और घर का काम-काज देखें। भले ही लाचारी में शुक्ल जी ने इस आदेश को भी स्वीकार किया। इस दौरान शुक्ल जी का परिचय पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी जी से बढ़ता रहा। जब भी वे दौलतपुर होते देवीदत्त शुक्ल जी उन्हें मिल आया करते और आती बार पढ़ने के लिए पत्र पत्रिकाएं भी ले आया करते और 'सरस्वती' के लिए कुछ न कुछ लिखते रहने की प्रेरणा भी।

3-4 वर्ष तक ये घर ही रहे। बाद में परिस्थितियों से बाध्य हो इन्हें घर छोड़ना पड़ा। इस संबंध में जब शुक्ल जी ने अपने बड़े भाई से बात की तो अत्यन्त दुखी मन से इन्हें आज्ञा दे दी गई परन्तु जब इन्होंने अपने मंझले भाई को पूछा तो उन्होंने साफ मना कर दिया और बाद में पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी जी से मिलकर इनकी नौकरी की बात कर आए। घर लौटकर इन्होंने शुक्ल जी को कहा कि तुम्हें द्विवेदी जी ने बुलाया है। द्विवेदी जी से जब शुक्ल जी मिले तो उन्होंने तीन नौकरियों के बारे में शुक्ल जी को बताया। एक तो थी कलकत्ता में हिन्दी पुस्तकों की एजेंसी में 60/- रु. मासिक और मकान मुफ्त, दूसरी नागरिक प्रचारिणी सभा में 75/-रुपये मासिक और तीसरी थी इंडियन प्रेस में 50/- रुपये मासिक। देवीदत्त शुक्ल जी ने सबसे कम आय की तीसरी नौकरी पसंद की और द्विवेदी जी से उस नौकरी पर जाने की अपनी इच्छा भी बता दी। उसी समय द्विवेदी जी ने उनसे प्रार्थनापत्र लिखवाया और पोस्ट करवा दिया। आठवें दिन जब शुक्ल जी द्विवेदी जी से मिलने गए तो उन्होंने बताया कि इंडियन प्रेस के स्वामी ने उनका आवेदन स्वीकार कर लिया है। इस तरह पं. देवीदत्त शुक्ल सन् 1919 में इंडियन प्रेस में नियुक्त हो गए और 'बाल-सखा' पत्रिका का काम देखने लगे। इस पत्रिका का कार्य करने के दौरान इन्होंने पाया कि इनके पास इस पत्रिका का काम निपटाने के पश्चात काफी समय बच जाता है। तब इन्होंने इंडियन प्रेस के मालिकों से बातचीत की। इनकी बातचीत से वे लोग काफी प्रसन्न हुए। बाद में सन् 1921 में इन्हें 'सरस्वती' के सहकारी संपादक के रूप में नियुक्त कर दिया गया। जब 'सरस्वती' का संपादन भार इन्हें सौंपा गया तब इनसे 'बाल सखा' का काम लेकर गिरिजा दत्त शुक्ल 'गिरीश' को दे दिया गया। घोष बाबू (इंडियन प्रेस के मालिक) ने गिरीश जी को इनकी 'सरस्वती' में सहायता के लिए भी कहा और गिरिजा दत्त शुक्ल 'गिरीश' यथा-शक्ति इन्हें अपना सहयोग देने लगे। जब लोगों को इस बारे में जानकारी हुई कि 'सरस्वती' के संपादकीय नोट गिरिजा दत्त शुक्ल लिखते हैं तो देवीदत्त जी पर छींटाकशी की गई। तब गिरीश जी के नोट छापने बंद कर देवीदत्त जी ने सब कार्य स्वयं ही देखना शुरू कर दिया लेकिन इनके सहायक के रूप में आनन्दी प्रसाद जी को नियुक्त कर दिया गया।

शुक्ल जी ने यह स्वीकार किया है कि गिरीश जी, विक्रम जी, आनन्द प्रसाद जी, और पंत जी ये चारों उस समय इलाहाबाद के अच्छे कवि गिने जाते थे। इसी तरह अनेक खट्टे मीठे अनुभवों के साथ देवीदत्त शुक्ल 1946 तक 'सरस्वती' के संपादन से सफलतापूर्वक जुड़े रहे और यह उनकी महानता रही कि वे इस सफलतापूर्वक संपादन के लिए हिन्दी के प्रसिद्ध लेखकों, लेखिकाओं, सुकवियों, सुकवित्रियों, श्रेष्ठ कहानी लेखकों और लेखिकाओं के सहयोग को मानते रहे और उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि "विस्तृत साहित्यिक जीवन (सन् 1919 से 1946 तक) मैं सचमुच ही एक प्रकार का साहित्यिक बन बैठा, यद्यपि इसकी पहले मुझे गंध तक नहीं थी...इंडियन प्रेस में रहकर वास्तव में मैंने साहित्य की पर्याप्त शिक्षा प्राप्त की और बड़े साहित्यिकों के संपर्क में आकर बहुत कुछ प्राप्त किया।" □

899, रानी बाग,
दिल्ली-110034

ग़ज़ल

प्रियकार

●

हमारी सभ्यता के मोड़ से ताज़ा ख़बर गुज़री।
सुबह गुज़री थी भूखे पेट, भूखी दोपहर गुज़री।

बड़ा लंबा फ़साना है किताबों में इसे लिख दो,
मसाइल के अंधेरों से सियासत बेख़बर गुज़री।

वही हैं गांव के नक्शे वही हैं बस्तियां अपनी,
मसीहों की इनायत भी इधर से मुख़्तसर गुज़री।

लगा, मंज़र न बदलेगा सदी कुछ और टूटेगी,
जहां तक वादियों में आज ये मेरी नजर गुज़री।

कहीं खंजर चमकते हैं, कहीं बारूद बिखरी है,
अमन की ये ग़ज़ल मेरी, ज़मीं पे दर-ब-दर गुज़री □

●●

साथ यारी के खुशी भी लाइए,
आइए तो ये घड़ी भी लाइए।

लाए हैं आजादी-ए-परचम हुज़ूर,
मुल्क है तो जिन्दगी भी लाइए।

ताक पे रख दीजिए आदाबो-रस्म,
जाइए कुछ रोशनी भी लाइए।

शख्सियत पे जोर देना ठीक है,
इन्तहाए-सादगी भी लाइए।

मज़हबों में खून की सूरत न हो,
एक ऐसी बेहतरी भी लाइए। □

एस. एम. लेन, चापदानी,
हुगली-712222 (प. बं.)

संत सम्पादक पं. देवीदत्त शुक्ल

रामजी प्रसाद सिंह

'सरस्वती' इस सदी के पूर्वार्द्ध की सबसे प्रभावशाली साहित्यिक पत्रिका थी। पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उसे पल्लवित-पुष्पित-फलित किया, तो देवीदत्त जी ने उसे जवानी की रवानी प्रदान की।

नागरी प्रचारिणी सभा की पहल पर, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद द्वारा 1900 ई. में प्रकाशित इस पत्रिका का सम्पादन-भार द्विवेदी जी ने 1903 में संभाला और 17 वर्षों के अपने कार्यकाल में उसे प्रतिष्ठा के उच्च शिखर पर पहुंचा दिया। बरतनी, व्याकरण, वाक्य-विन्यास—प्रत्येक दृष्टि से 'सरस्वती' मानक पत्रिका बन गई। जिस लेखक की रचना इसमें छप जाती थी, वह धन्य हो जाता था। सरस्वती-परिवार के सद्प्रयासों से खड़ी बोली के नाम से तिरस्कृत हिन्दी साहित्यिक भाषा के रूप में समाहत हुई और हिन्दी साहित्य के इतिहास ने उस काल को 'द्विवेदी-युग' की संज्ञा दी।

उस युग में नींव की ईंट की तरह काम करने वाले साहित्यकारों और पत्रकारों में पंडित देवीदत्त शुक्ल का नाम अग्रगण्य है। वे सच्चे अर्थों में संत थे—सम्पादक बाद में। इसी कारण पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के उत्तराधिकारी के रूप में उन्होंने सरस्वती और हिन्दी की सेवा निर्विकार भाव से की। उन्होंने द्विवेदी जी द्वारा स्थापित परम्पराओं और मान्यताओं को न केवल कायम रखा, बल्कि उसे निरन्तर बढ़ाया।

वास्तव में, उन्हें द्विवेदी जी की प्रतिमूर्ति कहा जाए, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। आचार-विचार, भाषा-नीति, समाज-नीति—दोनों की समान थी।

पंडित देवीदत्त शुक्ल मृदुभाषी थे, किन्तु दब्बू नहीं। पक्के गांधीवादी थे, किन्तु गांधीजी की भाषा-नीति की उन्होंने डटकर आलोचना की। हिन्दी के स्थान पर 'हिन्दुस्तानी' को उन्होंने कतई स्वीकार नहीं किया। गांधीजी की ओर संकेत करते हुए उन्होंने लिखा—"हिन्दी पर न मालूम किस ग्रह की दृष्टि पड़ गई है कि....और तो और, जिन लोगों ने इसे राष्ट्रभाषा स्वीकार किया था, वही आज यह प्रयत्न कर रहे हैं कि हिन्दी 'हिन्दुस्तानी' हो जाए और हिन्दी वाले राम को रहीम और धर्म को मजहब लिखा करें।" प्रेस के प्रारंभिक लेखों को शुक्ल जी ने देवनागरी में लिखित उर्दू की संज्ञा दी। उन्होंने कहा—"हिन्दुस्तानी भाषा विशुद्ध उर्दू होती है।"

गांधीजी की सादगी, सदाचार और स्वदेशी की नीति का उन्होंने आजीवन पालन किया, किन्तु राजनीति, भाषा और समाज के क्षेत्र में उन्होंने परिवर्तनवादियों का समर्थन किया, प्रगतिशील विचारकों को प्रश्रय दिया।

'विशाल भारत' में पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने यथार्थवादी साहित्यकारों का दरवाजा बंद कर दिया था। यथार्थवादी साहित्य को उन्होंने 'घासलेटी साहित्य' की संज्ञा दी थी। परन्तु पंडित देवीदत्त शुक्ल ने उन्हें 'सरस्वती' में आदर का स्थान दिया। 'विशाल भारत' द्वारा तिरस्कृत पं. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' को उन्होंने सरस्वती में प्रवेश देकर महाकवि करार दिया। पंडित सुमित्रानन्दन पंत को उन्होंने 'क्रांतिकारी' कवि की संज्ञा दी। महादेवी वर्मा, नेपाली, बच्चन, दिनकर आदि को भी पहले-पहले उन्होंने ही ऊंचा स्थान प्रदान किया।

नवोदित लेखकों को शुक्ल का अमित्त प्यार मिलता था। होनहार साहित्यकारों के वे बड़े भारी पारखी थे। 'सरस्वती' को उन्होंने चार भागों में बांट रखा था। इनमें चौथा भाग नवोदित लेखकों के लिए सुरक्षित था। महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन की एक प्रारंभिक रचना भी शुक्ल जी ने छापी थी। उस समय वे महापंडित नहीं बने थे। अपने मूल नाम रामउदार दास के नाम से लिखते थे। राहुल जी को 'सरस्वती' का वह अंक नहीं मिल पाया था, अतः वे नाराज होकर शुक्ल जी के पास पहुंचे थे। उनकी धारणा थी कि 'सरस्वती' में उनके लेख को स्थान नहीं मिला। लेकिन शुक्ल जी ने उनका प्रकाशित लेख दिखा कर महापंडित को अवाक् कर दिया।

कोई वरिष्ठ अधिकारी अपने कनिष्ठ अधिकारी का लोहा साधारणतया नहीं मानता। अपने उत्तराधिकारी की वरिष्ठता को तो कोई शायद ही स्वीकार करता है। श्री पदुम लाल पुन्ना लाल बख्शी (सरस्वती के तीसरे प्रधान सम्पादक) ने अपने उत्तराधिकारी श्री देवीदत्त शुक्ल को अपना 'साहित्यिक-गुरु' स्वीकार किया। श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कहा—"ऐसे व्यक्ति अक्सर नहीं मिलते। इनसे आगे बड़ी आशा है।"

प्रसिद्ध साहित्यकार श्री अमृतलाल नागर ने लिखा है—"मेरी नौजवानी के दिनों में देवीदत्त शुक्ल का नाम सलामी तोप की तरह ही गूंजता था।" इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। इसकी पुष्टि डा. रामकुमार वर्मा के एक संस्मरण से होती है। डा. वर्मा 'सरस्वती' में स्थान पाने के लिए अपनी एक अच्छी कविता लेकर शुक्ल जी के पास पहुंचे थे। उसमें एक पंक्ति थी-"सहसा आज आ गई है, जीवन की अंतिम बेला।" होनहार कवि और साहित्यकार के मुख से ऐसी निराशावादी वाणी वे सुनने के लिए कतई तैयार नहीं हुए। उन्होंने कहा—'अंतिम बेला' को बदल कर 'उज्ज्वल बेला' लिखने की छूट दो तभी यह कविता प्रकाशित होगी। नौजवानों को निराशावादी नहीं होना चाहिए।

इसी क्रम में वे कहते गए—"छायावादियों ने क्रांति की है, किन्तु कभी-कभी वे समझ से बाहर के शब्दों का प्रयोग करते हैं। 'ले

चल मुझे भुलावा देकर, नाविक मेरे धीरे-धीरे' क्या अर्थ? नाविक को आप जहां कहेंगे, ले जाएगा। पंत जी ने विवाह नहीं किया, लेकिन लिखते हैं–'मेरे मानस की तरंग में, पुनः **अनंग बनो साकार**'–यह कैसी बात है।''

शुक्ल जी ने 'हिन्दुस्तानी' का विरोध किया, किन्तु हिन्दी के लेखकों और पत्रकारों को बड़ी 'खरी-खरी' सुनाई। उन्होंने लेखकों को कहा–''कभी-कभी अपने देश की पतित जातियों और निरीह देहातियों की स्थिति की ओर भी अपनी करुण-दृष्टि फेर दिया करो।''

अपनी रचनाओं में विदेशी शब्दों का अवांछित उपयोग करने वाले लेखकों को फटकारते हुए उन्होंने कहा–''हिन्दी में उपयुक्त शब्दों के होते हुए भी विदेशी शब्दों का इस्तेमाल मिथ्या दंभ और दासवृत्ति का द्योतक है। हिन्दी को वर्ण संकरी भाषा न बनाएं।''

रुढ़िवाद के विरुद्ध महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन के अभियान को उन्होंने 'स्तुत्य' करार दिया, परंतु 'जरूरत से ज्यादा तीखी तेवर' पर असहमति व्यक्त की। उन्होंने कहा–''गंभीर लेखक से ऐसी आशा नहीं की जा सकती।''

हिन्दी की उपेक्षा के लिए उन्होंने हिन्दी के लेखकों को अधिक प्रताड़ित किया। उन्होंने कहा कि बंगला, मराठी, गुजराती इत्यादि की तरह हिन्दी के लेखक अपना साहित्य का भंडार बनाने में दत्त-चित्त होकर काम करते तो गांधी जैसे हिन्दी के समर्थकों को, हिन्दी के बदले में हिन्दुस्तानी की वकालत करने की नौबत नहीं आती। 'दक्खिनी हिन्दी' के जन्म स्थान (दक्षिण भारत) में इसका अपमान नहीं होता।

पंडित देवीदत्त शुक्ल प्राचीन हिन्दी कवियों की दुर्लभ रचनाओं की खोज और प्राचीन पांडुलिपियों के जीर्णोद्धार पर बल देते थे। उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा सें आग्रह किया था कि प्राचीन पोथियों की सूची प्रकाशित की जाए।

ग्राम-गीतों और हिन्दी की अनेक बोलियों के गायकों के गीतों का संग्रह और उनके प्रकाशन पर भी उन्होंने बल दिया। पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने उन्हीं की प्रेरणा से हजारों ग्राम-गीतों का संग्रह किया और उन पर अनेक अध्ययन प्रकाशित किए।

शुक्ल जी का कहना था–''बोलियां चेरी नहीं, माता हैं। समर्थ हैं। सरस हैं।''

पत्रकारों को उन्होंने सलाह दी–''सदैव जनता की भावनाओं का ख्याल करें। आलोचना करें, किन्तु कर्त्तव्यपालन की दृष्टि से, अपना धर्म समझ कर, किसी को प्रसन्न करने या नाराज करने के उद्देश्य से नहीं।....खोजने में महीना लगाओ और लिखने में घंटा।''

उन्होंने आचार्य द्विवेदी के इस मत को भी दुहराया कि जीवन के किसी क्षेत्र में सफल होना चाहते हो तो सरल भाषा में लिखना सीखो। इसके बिना न तो लेखक जनसाधारण तक काम नहीं करेंगे, आपकी दशा यथावत् बनी रहेगी।

व्यक्तिगत जीवन में शुक्ल जी कट्टर कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे, परंतु सार्वजनिक जीवन में सर्वथा मानवतावादी। अपने सहयोगी ठाकुर श्रीनाथ सिंह के अनुसार शुक्ल जी का कहना था–''घर तुम्हारा किला है, चाहे जैसे रहो, परन्तु बाहर में समाज के अनुकूल आचरण करना होगा।'' बाल-विवाह, विधवा-विवाह, पर्दा-प्रथा, दहेज-प्रथा, छुआछूत, विदेश-यात्रा आदि के संदर्भ में उनका विचार अत्यन्त प्रगतिशील था।

उनकी प्रगतिशीलता इस बात से भी प्रमाणित होती है कि उन्होंने अपनी एक लड़की को अविवाहित रहने की अनुमति प्रदान की। उनके जमाने में शायद ही कोई परम्परावादी ब्राह्मण अपनी कन्या को इसकी अनुमति देता।

शुक्ल जी शाक्त थे–प्रारंभ से ही। परन्तु अपने विचारों को उन्होंने 'सरस्वती' पर हावी नहीं होने दिया। सच्चाई यह है कि तंत्र-विद्या पर उन्होंने एक भी लेख 'सरस्वती' में नहीं लिखा। तंत्र-विद्या के उद्धार के लिए उन्होंने 'चंडी' नामक एक अलग पत्रिका निकाली, जो अब भी जारी है। उसका सम्पादन उनके सुपुत्र श्री रमादत्त शुक्ल कर रहे हैं।

'चंडी' के कारण भी उन्हें पोंगापंथी पंडितों के आक्रोश का सामना करना पड़ा। कट्टरपंथियों को तंत्र-शास्त्र का प्रकाशन अमान्य था। उनकी मान्यता थी कि तंत्र-विद्या को गुप्त रखना चाहिए। 'गोप्यम् गोप्यम् प्रयत्नतः।' फलतः शुक्ल जी को 'चंडी' के तीन-चार अंकों में सारे लेख स्वयं लिखने पड़े। बाद में, 'चंडी' के माध्यम से उन्होंने धूल-धुसरित गुप्त तंत्र-शास्त्र का उद्धार किया। दुर्लभ तंत्रों को प्रकाशित किया। तंत्र-शास्त्र पर 1932 में प्रकाशित उनका 'वाम-मार्ग' एक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। इसके प्रकाशन का इतिहास भी रोचक है। मेवाड़-राजवंश के कुंवर हिम्मत सिंह ने 'महिषासुर-वध' नामक एक पुस्तक प्रकाशनार्थ भेजी थी। शुक्ल जी ने काफी संशोधन के साथ उसे प्रकाशित करना स्वीकार किया। उनके संशोधन से कुंवर साहब प्रसन्न हो गए और उन्हें यथोचित दक्षिणा देने का प्रस्ताव किया। परन्तु शुक्ल जी ने कहा कि मैंने इंडियन प्रेस के लिए काम किया है, कोई आपका उपकार नहीं किया है। कुंवर साहब ने कहा–जब तक आप कुछ स्वीकार नहीं करेंगे, मैं आपके ऋण-भार से दबा महसूस करूंगा। इसके उत्तर में उन्होंने कुंवर साहब को 'वाम-मार्ग' के प्रकाशन का खर्च देने का आग्रह किया। शुक्ल जी तंत्र-शास्त्र को हिन्दू धर्म शास्त्र का विश्व-कोश मानते थे।

तंत्र में आस्था रखने वाले योगी कम, भोगी अधिक होते हैं। परन्तु शुक्ल जी योगी थे। सच्चे योगी, कर्मनिष्ठ, त्यागी। वे सरस्वती का एक विशेषांक निकाल रहे थे–श्रद्धांक इसका अंतिम प्रूफ देखने में तल्लीन थे। इसी बीच एक तार मिला, जिसमें उनके ज्येष्ठ पुत्र के निधन का अशुभ संदेश था। शुक्ल जी ने पढ़ कर उसे जेब में रख लिया। जब उन्होंने अपना काम समाप्त कर लिया, सहयोगियों को उनकी भनक भी नहीं लगने दी। ऐसे कर्मयोगी, वास्तव में विरले ही मिलते हैं। इनके इन्हीं गुणों से प्रभावित होकर शुक्ल जी को प्रयाग के अनेक संभ्रांत नागरिकों ने गुरु मान लिया था और उनसे दीक्षा ली थी।

गद्य-पद्य, इतिहास-पुराण आदि पर शुक्ल जी की 28 पुस्तकें उनके पांडित्य को प्रमाणित करती हैं। इनमें दुर्गा शप्तशती का

(शेष पृष्ठ 38 पर)

राष्ट्रभाषा हिन्दी के स्वर्णयुग के सम्पादक

रमादत्त शुक्ल

राष्ट्रभाषा हिन्दी के इतिहास में सन् 1921 से 1946 तक का पचीस वर्षीय युग अपना विशेष महत्व ही नहीं रखता है, कितने ही मनीषियों की दृष्टि में वह उसका 'स्वर्णिम काल' रहा है। इस युग के ठीक पूर्व डेढ़ दशक से अधिक का काल हिन्दी-जगत द्वारा सर्व-सम्मति एवं मुक्त कण्ठ से घोषित आदि 'आचार्य' पण्डित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के उस अद्वितीय अनवरत अध्यवसाय का वह युग रहा है, जिसमें हिन्दी का परिष्कार ही नहीं हुआ, अपितु कला एवं विज्ञान से सम्बन्धित प्रायः सभी विषयों पर आचार्य-प्रवर की प्रेरणा से हिन्दी में कितनी ही लेखनियां चल पड़ीं और सारे देश को यह स्वीकार करना पड़ा कि हिन्दी ही भारत की 'राष्ट्रभाषा' के पद की अधिकारिणी है।

सन् 1921 में आचार्य द्विवेदी के अभूतपूर्व अभियान को अग्रसर करने का दायित्व उन्हीं के द्वारा मनोनीत, उनके उत्तराधिकारी 'सम्पादक शिरोमणि' पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने स्वीकार किया। यहां यह उल्लेखनीय है कि आचार्य द्विवेदी ने जब सन् 1903 में 'सरस्वती' के सम्पादन द्वारा राष्ट्र-भाषा-परिष्कार का अपना उग्र अभियान छेड़ा था, तब उसकी प्रगति के मार्ग में जो भी बाधक तत्व आए, उन्हें पूज्य द्विवेदी जी अपनी प्रखर आलोचना-शक्ति द्वारा निरन्तर जड़ से उखाड़ फेंकते गए। यहां तक कि तत्कालीन हिन्दी-जगत की सर्वमान्य एकमात्र संस्था 'नागरी प्रचारिणी सभा' की भी उन्होंने हिन्दी हित में ऐसी कटु आलोचना की कि 'सभा' को 'सरस्वती' से अपना समर्थन वापस लेने की धमकी देनी पड़ी। किन्तु वह धमकी बेकार गई और 'सरस्वती' के सूत्रधार एकमेव आचार्य-प्रवर ही बन गए।

हिन्दी के परिष्कार के अभियान में उक्त संघर्ष को जीवन भर आचार्य द्विवेदी ने झेला और उसमें वे विजयी ही नहीं हुए, विजयश्री द्वारा सार्वजनिक रूप से सम्मानित भी हुए। 'सरस्वती' से अपना समर्थन वापस लेने वाली 'नागरी प्रचारिणी सभा' ने ही काशी में उनका भव्य अभिनन्दन किया, उन्हें विशाल 'अभिनन्दन-ग्रंथ भेंट में दिया और प्रयाग में 'द्विवेदी-मेला' नाम से एक ऐसा भव्य त्रिदिवसीय साहित्यिक आयोजन सम्पन्न हुआ, जैसा आज तक किसी ने देखा-सुना न होगा।

उक्त विवरण से किसी को यह न समझ लेना चाहिए कि आचार्य द्विवेदी के उक्त सार्वजनिक अभिनन्दन और सम्मान के साथ ही राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रगति-अभियान के मार्ग की बाधाएं समाप्त हो गईं और किसी संघर्ष की आवश्यकता नहीं रह गई। इसके विपरीत सन् 1921 में आचार्य-प्रवर के नेपथ्य में जाते ही नई-नई बाधाएं और संघर्षपूर्ण परिस्थितियां सिर उठाने लगीं। दूरदर्शी आचार्य द्विवेदी जी इनके लिए भी तैयार थे और उन्होंने भी पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बी. ए. को प्रधान सम्पादक मनोनीत कर अपने भावी उत्तराधिकारी पं. देवीदत्त शुक्ल का मार्ग प्रशस्त करने का अभूतपूर्व सफल प्रयास किया।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के इतिहास-लेखन में आज तक उक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के प्रति कदाचित ही किसी का ध्यान गया होगा। 'सम्पादक-शिरोमणि' पं. देवीदत्त शुक्ल ने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व को पीछे रखकर सर्वथा निःस्पृह भाव से सन् 1922 से सन् 1947 तक के तीन दशकों तक राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा की। इस सेवा का मूल्यांकन आचार्य द्विवेदी को हिन्दी-जगत में लाने वाले महामना श्री चिन्तामणि घोष के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सका। उन्होंने शुक्ल जी के व्यक्तित्व और कृतित्व को बहुत पहले ही आंक लिया था। इसका प्रमाण उनकी 'वसीयत' है, जिसमें उन्होंने आचार्य द्विवेदी जी के ही समान 'सम्पादक-शिरोमणि' शुक्ल जी के लिए भी आजीवन पेंशन दिए जाने का प्रावधान कर दिया था।

सन् 1947 में दृष्टिहीन हो जाने से शुक्ल जी को 'सरस्वती' के माध्यम से राष्ट्रभाषा के हित में किए जाने वाले अपने बहुमुखी सफल अभियान से अवकाश ग्रहण करना पड़ा किन्तु आचार्य द्विवेदी के समान उन्होंने भी अपना एक सुयोग्य उत्तराधिकारी मनोनीत कर लिया था। उन्हीं पं. उमेशचन्द्र मिश्र के कुशल हाथों में 'सरस्वती' को सौंपकर वे निश्चिन्ततापूर्वक नेपथ्य में जा बैठे थे। यदि परिस्थितियां प्रतिकूल न हुई होतीं, तो वे द्विवेदी जी ही की तरह अपने जन्म-स्थान 'बकसर' गांव में जाकर शेष जीवन बिताते, किन्तु एक तो गांव का वातावरण अनुकूल नहीं रह गया था, दूसरे प्रयाग में ही सन् 1942 में उनके द्वारा 'चण्डी' नामक एक आध्यात्मिक पत्रिका का सूत्रपात हो चुका था, जिसके सम्पादन-प्रकाशन का पूर्ण भार उन्हीं पर था।

लगभग 30 वर्षों के अपने साहित्यिक सम्पादन-काल में पूज्य शुक्ल जी ने प्रारंभिक काल में 'बाल-सखा' का और शेष काल में 'सरस्वती' का सम्पादन किया। इस दीर्घ काल में कितने ही ग्रंथों एवं पुस्तकों की उन्होंने रचना की और कितनों ही का संशोधन एवं सम्पादन किया। विविध विषयक उनकी अनेक मौलिक तथा अनुदित कृतियां भी प्रकाशित हुईं। दृष्टिहीन अवस्था में उन्होंने 'सरस्वती' के अपने सम्पादन-काल का लेखा-जोखा भी लिखवाया, जिसका पूर्वार्द्ध उनके जीवन-काल में ही 'सम्पादक के पचीस वर्ष' नाम से प्रकाशित हो गया और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा भी हुई। उत्तरार्द्ध में उन्होंने अपने काल के उल्लेखनीय साहित्यकारों के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखवाया है, जो अभी तक अप्रकाशित है। इसी प्रकार बहुसंख्यक पत्रों के आधार पर उनकी लिखी टिप्पणियां भी पाण्डुलिपि के रूप में सुरक्षित हैं। उनकी कविताओं का संग्रह, बैसवाड़े के कवियों पर उनकी शोधात्मक कृति, उनका लिखा 'अवध का इतिहास' आदि कितनी ही कृतियां प्रकाशित नहीं हो सकीं। हां, छद्म नाम से उनके द्वारा लिखित कुछ आलोचनात्मक निबन्ध भी अवश्य 'कुछ खरी-खरी' के नाम से उनकी साहित्यिक आत्म-कथा के साथ ही एक

संग्रह-पुस्तिका के रूप में उनके जीवनकाल में प्रकाशित हो गए थे।

'सरस्वती' के माध्यम से शुक्ल जी ने अपने तीन दशक के युग में राष्ट्रभाषा हिंदी को उत्कर्ष के शिखर पर पहुंचाने में ऐसी सफलता प्राप्त की कि वह हिंदी का 'स्वर्ण युग' बन गया। उसका पूर्ण परिचय इस छोटे-से निबंध में देना सम्भव नहीं है। हां, उसकी झलक जो पाठक देखना चाहें, वे उनके स्मृति-ग्रंथ 'सम्पादक के संस्मरण' में देख सकते हैं। विस्तृत विवेचन के लिए तो उससे सम्बन्धित 'शोध-ग्रंथ' की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

सन् 1942 में पण्डित शिवनाथ काटजू के सहयोग से शुक्ल जी ने एक अभूतपूर्व आध्यात्मिक मासिक पत्रिका 'चण्डी' का सूत्रपात किया और यद्यपि कभी उसके सम्पादक के रूप में अपना नाम नहीं दिया, तथापि उसके सम्पादन का सम्पूर्ण कार्य वे स्वयं ही अपने जीवन के अन्तिम काल सन् 1971 तक करते रहे। तीस वर्ष के उनके इस आध्यात्मिक सम्पादन-काल में भारतीय अध्यात्म की रहस्यपूर्ण शाक्त-साधना पर जो विपुल हिन्दी-साहित्य प्रकाशित हुआ, उसकी ओर हिन्दी-जगत की अभी दृष्टि ही नहीं गई है। यहां उसका उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि पाठक उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की इस अनूठी विशेषता को हृदयङ्गम कर सकें कि राष्ट्रभाषा हिंदी में 'स्वर्ण-युग' को प्रत्यक्ष कराने वाले एक महान साहित्य-सम्पादक तो वे थे ही, उससे बढ़कर वे एक आध्यात्मिक मनीषी भी थे।

कहने की आवश्यकता नहीं की सम्पादकाचार्य शुक्ल जी के जीवन के उक्त दोनों पक्षों पर प्रकाश डालना सहज कार्य नहीं है। दैवयोग से उनके शताब्दी-वर्ष में लखनऊ दूरदर्शन ने एक ऐसा वृत्तचित्र बनाने में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की, जिससे तद्‌विषयक एक झलक दर्शकों को मिल सकती है। जहां तक सम्पूर्ण दिग्दर्शन की बात है, वह तो साहित्यिक और आध्यात्मिक शोधकर्त्ताओं की कर्मठता और मेधा पर निर्भर है।

स्मृति-ग्रंथ 'सम्पादक के संस्मरण' में पूज्य शुक्ल जी के अनेक सहकर्मी एवं समकालीन सम्पादकों, साहित्यकारों और मनीषियों ने उनके सम्बन्ध में अपने-अपने मन्तव्य व्यक्त किए हैं और शुक्ल जी के व्यक्तित्व तथा कृतित्व के निजी संस्मरणों का उल्लेख कर उनकी पुष्टि की है। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने उन्हें अपना 'साहित्यगुरु' बताया है, तो ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने उन्हें ऐसा 'सम्पादकाचार्य गुरुदेव' कहा है, 'जिनके सिवाय' उन्होंने 'किसी को न जाना, न माना।' श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' ने उन्हें 'वीत-राग साहित्य-महारथी' निरुपित किया है, तो श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' ने 'निष्पक्ष सम्पादक'। पं. ठाकुरदत्त मिश्र ने लिखा है कि वे 'एक असाधारण प्रकार के कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति' थे। ये पांचों मनीषी इंडियन प्रेस में वर्षों शुक्ल जी के निकट सम्पर्क में रहे, अतः इनका मूल्यांकन कितना महत्वपूर्ण है, यह कोई भी समझ सकता है।

डा. मुकुन्द देव शर्मा की दृष्टि में शुक्ल जी 'चोटी के साहित्यकार एवं पत्रकार' थे, तो डा. भगवती प्रसाद सिंह उन्हें 'राष्ट्रीय अस्मिता के सजग प्रहरी' मानते हैं। श्री विद्याभास्कर ने उन्हें 'राष्ट्रभाषा हिन्दी के महान साधक' के रूप में स्मरण किया है, तो डा. गौरीशंकर गुप्त ने 'सम्पादन-कला के आचार्य और हिन्दी के सजग प्रहरी' के रूप में। श्री भक्तदर्शन शुक्ल जी को 'उदार-मना मनीषी' मानते हैं, तो पं. रामबहोरी शुक्ल 'निःस्वार्थ निष्ठावान हिन्दी-सेवक'। श्री शमशेर बहादुर सिंह के मत में वे 'तटस्थ, दृढ़ तथा संतुलित सम्पादक' थे। श्री त्रिलोचन शास्त्री ने शुक्ल जी को 'नए-पुराने दोनों प्रकार के साहित्य में निष्णात' निरुपित किया है। इस प्रकार समकालीन इन साहित्यकारों ने उनके साहित्यिक पक्ष पर प्रकाश डाला है। कुछ ऐसे भी साहित्यकार हैं, जिन्होंने शुक्ल जी के उज्ज्वल आध्यात्मिक पक्ष की भी चर्चा की है।

श्री परिपूर्णानन्द वर्मा ने शुक्ल जी को 'सिद्ध पुरुष बताया है, तो डा. प्रभुदयाल अग्निहोत्री ने 'प्रज्ञा और पवित्रता का संगम'। डा. राजकुमार वर्मा उन्हें 'साहित्य का तपस्वी' मानते हैं, तो प्रो. कल्याणमल लोढ़ा 'प्रेरणा-स्रोत, प्रकाश-स्तम्भ।' डा. जगदीश गुप्त ने तो बताया है कि शुक्ल जी 'विनयशील वामोपासक' थे किन्तु पं. बनारसी दास चतुर्वेदी इतना ही लिखकर रह जाते हैं कि 'वे शाक्त थे, यह बात मैं जानता था, पर मेरी रुचि उस विषय में बिल्कुल नहीं थी।' चतुर्वेदी जी के कथन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी के आध्यात्मिक व्यक्तित्व के प्रति हिन्दी के मनीषियों ने जैसा चाहिए, वैसा ध्यान नहीं दिया। कदाचित इसी कारण शुक्ल जी को 'चण्डी' नामक मासिक पत्रिका का प्रवर्तन करना पड़ा।

कुछ भी हो, शुक्ल जी अध्यात्म-विद्या में इतने पारंगत थे कि एक दण्डी-संन्यासी महात्मा स्वामी शाश्वतानन्द सरस्वती ने उनके जीवनकाल में ही 'मूर्तिमान प्रयागराज' के रूप में उनका अभिनन्दन एक लेख द्वारा किया था। काशी के 'भारत-धर्म-महामंडल' द्वारा तो शुक्ल जी को सन् 1945 में 'आगम-विद्या निधि' की उपाधि से भी अलंकृत किया गया। मथुरा के पं. लक्ष्मणदत्त शास्त्री चतुर्वेदी 'याज्ञिक' ने उन्हें 'साधकों के लिए कल्पतरु' माना और देश की स्वाधीनता के लिए सन् 1932 में गुप्त रीति से अनुष्ठान करने वाले, इस युग के परम सिद्ध महा-पुरुष 'गुप्तावतार बाबाश्री' ने 'कौल-कल्पतरु' की उपाधि से उन्हें सम्मानित किया। न्याय-मूर्ति पं. शिवनाथ काटजू और उनकी धर्म-पत्नी श्रीमती अन्नपूर्णा काटजू के वे 'गुरुदेव' रहे। श्री रमाप्रसाद छिल्डियाल 'पहाड़ी' ने उन्हें 'देव-पुरुष' स्वीकार किया है।

उक्त संक्षिप्त विवरण से शुक्ल जी के साहित्यिक और आध्यात्मिक स्वरूप का कुछ परिचय पाठकों को मिल सकेगा। विशेष परिचय तो तत्सम्बन्धी शोधात्मक मूल्यांकन के बाद ही प्रकट हो सकेगा, जिसके लिए पर्याप्त प्रकाशित और अप्रकाशित सामग्री उपलब्ध है। हां, जिस पारिवारिक परिवेश और सामाजिक वातावरण में शुक्ल जी के विलक्षण व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विकास हुआ, उसके सम्बन्ध में समुचित ज्ञान न होने से कदाचित् विवेचक मनीषियों का ध्यान उस ओर न जा सके, अतः उस सम्बन्ध में कुछ अज्ञात तथ्यों की चर्चा करना यहां उचित और सार्थक होगा।

एक सौ तीन वर्ष पूर्व सन् 1887 में पं. देवीदत्त शुक्ल का जन्म उत्तर प्रदेश की प्रख्यात वीर-भूमि बैसवाड़ा के उन्नाव-जनपद के श्रीचण्डिका क्षेत्र में 'बकसर' नामक ऐतिहासिक ग्राम में हुआ था, कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के बाला के सुकुलों के प्रतिष्ठित कुल

में। शुक्ल जी के पूज्य पिता पं. कामदा प्रसाद सुकुल स्वभाव से एक विरक्त साधु से थे। वे प्रायः मौन ही रहते थे और जीविकोपार्जन के लिए भी कदाचित कुछ नहीं करते थे। उनके तीन पुत्रों का लालन-पालन उनके बड़े भाई पं. चण्डिका सहाय शुक्ल द्वारा ही किया गया, जो बड़े ही प्रतिभावान थे। कुशल चिकित्सक और क्रिया-सिद्ध मंत्र-शास्त्री थे। वे पूरे बैसवाड़े में 'महाराज' नाम से प्रख्यात थे और एक राजा जैसी उनकी आन-बान थी।

पं. कामदा प्रसाद जी की वैराग्य-भावना दिन-पर-दिन बढ़ती ही गई, यहां तक कि वे गृह त्याग कर पास की पारिवारिक निजी वाटिका में कुटी बनाकर उसमें रहने लगे। अपने तीन पुत्रों से उनका लगाव नाम भर ही को था। सबसे छोटे पं. देवीदत्त शुक्ल जी ही थे। एक बार वे इनसे बोले भी, तो मात्र यह कहा कि ''अपनी जीविका का साधन 'चिकित्सा' या मंत्र-विद्या' को मत बनाना।'' यहां यह उल्लेखनीय है कि शुक्ल जी के परिवार की मुख्य वृत्ति आयुर्वेदिक चिकित्सा और मंत्र-विद्या ही थी। बचपन से ही इन दोनों विद्याओं का चमत्कार देखते-सुनते रहने से शुक्ल जी को इनका पर्याप्त ज्ञान सहज रूप से हो चुका था किन्तु अपने त्यागी महात्मा पिता जी का उक्त कथन उन्हें ब्रह्म-वाक्य-सा प्रतीत हुआ और उन्होंने मन-ही-मन ठान लिया कि वे इन दो विद्याओं को जीविका का साधन नहीं बनाएंगे।

मौरावां (उन्नाव) और वाराणसी के विद्यालयों में विद्याध्ययन कर शुक्ल जी ने इण्टर तक की शिक्षा प्राप्त कर ली थी। उसी के आधार पर किन्हीं अंतरंग के परामर्श से उन्होंने पुलिस-विभाग में सेवा हेतु प्रार्थना-पत्र दिया, जो स्वीकृत हो गया और वे गोरखपुर पुलिस की नौकरी पर चले गए। पारिवारिक एवं जन्मजात संस्कारों तथा साहित्यिक रुचि के कारण उन्हें पुलिस का कार्य अनुकूल नहीं लगा और कुछ ही समय बाद वे उसे त्याग कर घर चले आए।

घर पर पूजा-पाठ, औषधि-निर्माण, खेती की देखभाल जैसे कार्यों की कमी न थी किन्तु इन कार्यों के प्रति तो उनका ध्यान था नहीं। अतः अवसर पाते ही वे अध्यापकी करने महा-समंद (रामपुर, म. प्र.) चले गए, किन्तु कुछ ही समय यह कार्य वे कर पाए थे कि पूज्य पितृव्य महाराजश्री अस्वस्थ हुए और उन्होंने चाहा कि सभी बच्चे उनके निकट ही रहें। फलतः शुक्ल जी को अध्यापकी का भी त्याग करना पड़ा और वापस आकर घर में रहकर पारिवारिक कार्यों में लगना पड़ा।

पूज्य महाराजश्री के देहान्त के बाद शुक्ल जी के बड़े भाई पं. शिवाधार सुकुल संयुक्त परिवार के प्रधान हुए। मझले भाई पं. मातादीन सुकुल उनके परम भक्त सहयोगी थे। केवल छोटे भाई पं. देवीदत्त शुक्ल जी कहीं बाहर जाकर किसी अन्य साधन द्वारा ही जीविकोपार्जन करना चाहते थे। तीनों भाइयों में परस्पर अगाध प्रेम था और दोनों ही बड़े भाई चिन्ता में थे कि छोटे भाई की मनोकामना कैसे पूर्ण हो?

दैवयोग से आचार्य पं. महावीर प्रसाद जी द्विवेदी का गांव 'दौलतपुर' शुक्ल जी के गांव 'बकसर' से पूर्व की ओर था और प्रयाग या कानपुर जाते समय द्विवेदी जी को शुक्ल जी के मकान से सटे गलियारे से होकर ही गंगा-घाट पर नौका पकड़ने के लिए जाना पड़ता था। अतः शुक्ल-परिवार से उनका परिचित होना स्वाभाविक ही था। एक बार द्विवेदी जी अस्वस्थ होकर पं. चण्डिका सहाय जी शुक्ल की शरण में आए और उनकी चिकित्सा से स्वस्थ भी हुए। फलतः परिचय घनिष्ठता में बदल गया।

यहां यह उल्लेख करना उचित होगा कि चिकित्सा और मंत्र-विद्या के साथ ही शुक्ल-परिवार में हिन्दी-साहित्य के प्रति भी गहरा अनुराग था। पं. शिवाधार जी सुकुल एक सुकवि तो थे ही, देवकीनन्दन खत्री के तिलिस्मी उपन्यासों से प्रभावित होकर उन्होंने 'प्राण-वल्लभा' नामक एक उपन्यास भी लिखा था। इसी प्रकार पं. मातादीन सुकुल भी काव्य-रचना में निपुण थे। यही नहीं, इनकी चचेरी बहनें भी कविताएं लिखा करती थीं। इस प्रकार भाई-बहन मिलकर परिवार में एक अच्छा साहित्यिक वातावरण बनाए हुए थे। आचार्य द्विवेदी जी से परिचय होने पर पं. मातादीन जी सुकुल उनके यहां प्रायः जाया करते और पत्र-पत्रिकाएं, पुस्तकें आदि पढ़ने को ले आया करते।

छोटे भाई का मन उचाट देखकर एक दिन पं. मातादीन सुकुल ने आचार्य द्विवेदी जी से चर्चा की और उनसे आग्रह किया कि इस सम्बन्ध में कुछ उपाय करें, जिससे भाई की मनोकामना पूर्ण हो सके। द्विवेदी जी ने तुरन्त ही उनसे कहा कि ''देवीदत्त को मेरे पास भेज दीजिए। मैं उनसे बात करूंगा कि वे क्या चाहते हैं। तब जो कुछ भी सम्भव होगा, अवश्य करूंगा।''

फिर क्या था! आचार्य द्विवेदी जी को मनोनुकूल उत्तराधिकारी मिल गया। उन्होंने जो दायित्व पं. देवीदत्त शुक्ल को सौंपा, उसे शुक्ल जी ने किस निष्ठा और गरिमा के साथ निबाहा, इसका मूल्यांकन हिन्दी जगत अभी तक नहीं कर पाया है। क्यों नहीं कर पाया, इसका संकेत पूर्व-वर्णित उस संघर्षात्मक पृष्ठभूमि से मिलता है, जिसकी विषम छाया में पं. देवीदत्त शुक्ल जी को सारे जीवन राष्ट्रभाषा की गरिमा और प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि के लिए अहर्निश लगातार जूझना पड़ा। उनके घोर परिश्रम से उक्त तीन दशकों की अवधि में राष्ट्रभाषा हिन्दी के 'स्वर्णिम युग' की कल्पना तो साकार हो ही उठी, साथ ही उनके द्वारा प्रवर्तित 'चण्डी' एवं 'कल्याण मन्दिर' के प्रकाशन द्वारा भारत की रहस्यमयी मंत्र-विद्या एवं शक्ति-साधना भी गोपनीयता के गह्वर से निकलकर अखिल विश्व को पुनः चमत्कृत करने लगी।

अनुपम व्यक्तित्व एवं कृतित्व के धनी, 'सम्पादक-शिरोमणि' पं. देवीदत्त शुक्ल की 103वीं जयंती के उपलक्ष्य में उनके श्रीचरणों में अकिंचन, अल्पज्ञ लेखक के कोटिशः अभिवादन। □

शाक्त साधना केन्द्र, कल्याण मंदिर,
'चण्डी'—कार्यालय, अलोपीबाग मार्ग,
इलाहाबाद-211006 (उ. प्र.)

चौराहे पर

— केवल सूद

ड्राईवर के अपनी जगह सम्भालते और हार्न बजाते ही मैं रेलिंग से हट बस की ओर बढ़ आया। हार्न की प्रतीक्षा ही तो जैसे मैं कर रहा था। बस में प्रवेश करते ही उड़ती नजर से मैंने बस भर में झांक लिया। आगे वाले दरवाजे, जहां से मैं घुसा, के दाईं ओर वाली आगे की दो-दो वाली तीनों सीटों पर तीन नव-विवाहित जोड़े बैठे हुए थे—पहला पंजाबी, दूसरा दक्षिण भारतीय, तीसरा शायद गुजराती।

मेरी सीट का नम्बर था 16। बिल्कुल खिड़की के पास और ड्राईवर के पीछे तीन वाली तीसरी सीट। मेरे बराबर में एक आदमी था। और एक सीट खाली थी। मेरे आगे वाली सीटों पर एक पंजाबी जोड़ा था। पति जैसे अभी-अभी विलायत या अमरीका से लौट कर आया हो और आते ही शादी कर ली हो। और पत्नी....।

उनके आगे यानी ड्राईवर के पीछे दो पंजाबी नौजवान बैठे हुए थे। उनका तीसरा साथी ड्राईवर मियां के बराबर वाली सीट पर था। पहलगाम में वे मेरे सामने वाले कमरे में ठहरे थे इसलिए मैं उन्हें पहचानता था। मेरे पीछे एक मारवाड़ी सेठ जमे हुए थे अपने ट्रांजिस्टर के साथ।

मेरे आगे जो पंजाबी जोड़ा था मेरे बैठते ही वही मेरे ध्यान का केन्द्र बन गया। वैसे मसलहतन मैं अपनी बाईं ओर बैठे हुए तीनों जोड़ों को भी देख लेता था। गुजराती जोड़े पर पहुंचते-पहुंचते मेरी नजरें थोड़ा विश्राम करने के लिए ठहर जाती थीं। गुजरातन गोरी, दुबली-पतली—कुछ मासूम और कुछ तुम्हारे जैसी थी। पर उसकी आंखों की सफेदी में डोरे नहीं खिंच पाते थे और न ही वे चंचल होती थीं जिससे मुझे भ्रम हो सकता यानी मुझे किसी किस्म की गलतफहमी हो सकती। उसका पति लगातार एक अंग्रेजी उपन्यास में डूबा हुआ था। इसीलिए उसकी पत्नी इधर-उधर झांकने के लिए स्वतंत्र थी। पर वह इसका फायदा नहीं उठा रही थी और किसी मुझ जैसे को बुद्धू बनाने की खुशी से स्वयं को महरूम रख रही थी। मेरे आगे बैठी पंजाबिन इस मामले में तेज थी हालांकि उसका अंग्रेज-अमरीकी दिखने वाला पति कोई अंग्रेजी उपन्यास पढ़ रहा था। और शिकार सारी बस में मैं ही हो सकता था। उसका जिस्म पूरी तरह गदराया हुआ था, यह मैं पहले देख चुका था, अब तो सिर्फ उसके गदराए होंठ और काले चश्मे के कोने में से झांकती हुई आंखों को ही देख रहा था। या उसकी आवाज और आंखों का पीछा करता हुआ कभी-कभी पीछे की तरफ क्योंकि मुझे लग रहा था कि मेरा ध्यान अपनी ओर बनाए रखने के लिए वह थोड़ी-थोड़ी देर बाद किसी-न-किसी बहाने अपने पति से बात करते हुए पीछे की तरफ देखने लगती थी। और मैं उसके चेहरा जरा-सा टेढ़ा करते ही उसकी आंखों के नंगे हिस्से को देखता हुआ, उसके होंठों पर से फिसलता हुआ पूरा क्रम दुहरा जाता था।

वह घूम कर पीछे न देख रही होती तो मैं उसके बड़े-से जूड़े को घूरता रहता। उसके जूड़े के पूरे आकार पर एक स्वतंत्र, बारीक बालों से मिल कर, एक अलग आकार बन गया था। मेरी नजरों के साथ-साथ मेरे हाथों में भी उस स्वप्निल आकार को सहला लेने के लिए मीठी-सी खुजली होने लगती थी। पर यह सिलसिला अधिक देर तक न चल सका। क्योंकि बार-बार उसकी आवाज और नजरों का पीछा करते-करते मेरी आंखें और गर्दन दर्द करने लगी थीं। कुछ कई रातों के उनींदेपन के कारण भी मेरी आंखें और मेरा सिर बोझिल हो रहे थे। अब मौका मिला था तो मैं किसी के रूप की धूप सेंकने और उसमें पैठ थोड़ा सुस्ता लेने का लोभ संवरण न कर सका। मेरी आंखें स्वयं ही बन्द हो गईं और मेरा सिर खिड़की के शीशे के साथ लग गया।

उसके पूरे जिस्म को गदराए आम से तशबीह दी जा सकती है। आम चूसने से पहले उसकी डोडी को हटाना होता है। यहां तो सिर्फ होंठों पर होंठ रख देने की जरूरत भर थी। और आम मुझे बहुत पसन्द हैं, तुम जानती ही हो। आंखों से पीने के लिए मेरा मन फिर आकुल हो रहा था। पर मैं आंखें खोल नहीं सका। उसके गदराए जिस्म में कहीं तुम थीं पर वह पूरी तरह तुम तो नहीं थीं। अब तुम्हारी याद ताजा हो आई थी तो मैं इस तुमसे बातें करने के लिए मौके को खोना नहीं चाहता था। साथ ही मुझे पहली बार इस बात का अहसास, वह भी बड़ी शिद्दत से, हो रहा था कि जब-जब मैं ऐसे गलतफहमी का शिकार हुआ हूं और बिना ठोस आधार के भटका किया हूं, वास्तव में मैं तुम्हें ही ढूंढता रहा हूं।

मैंने आंखें नहीं खोलीं। और....

लगा जैसे हम मिले हैं। लिद्दर के किनारे धूप फैली हुई है। उसके पानी के शोर के साथ-साथ हवा की आवाजें भी घाटी में भर रही हैं। हम घास पर बैठ गए हैं। थोड़ी देर बैठे रहे हैं चुपचाप। कभी दरिया के बिछलते पानी को देखते हैं, कभी घाटी में भरे शोर को सुनते हैं, कभी धूप सेंकते हैं। यह सब हम अलग-अलग नहीं एक साथ कर रहे हैं। और इसके अलावा जो हम कर रहे हैं या सिर्फ एक चीज जो हम कर रहे हैं वह एक-दूसरे को महसूस रहे हैं।

हम...नहीं, सिर्फ मैं अपनी कहता हूं, मैं धूप और तुम्हारा रूप एक साथ पी रहा हूं और थोड़ी देर बाद ही मेरे भीतर जमा कोहरा पिघलने लगता है। पारे की तरह हर वक्त बेआराम-सा रहने

वाला मेरा खानाबदोश मन कुछ देर के लिए एक त्राण-सा पा रुक जाता है।...और मैं चुपचाप तुम्हारी गोद में सिर रख लेट जाता हूं। आंखें बन्द कर लेता हूं और फिर सहसा तुम्हारी गोद में मुंह छुपा बिना किसी कारण के सुबकने लगता हूं, रोने लगता हूं।

तुम कुछ नहीं पूछतीं। तुम मुझे रोने देती हो। रोते-रोते थक कर मैं निरीह बालक-सा सो जाता हूं। तुम अपने आंचल का साया मुझ पर डाल देती हो।

मैं नींद में ही जैसे एक शेर गुनगुनाता हूं–

'अपनी जुल्फों का डाल दे साया साक़ी
धूप कुछ तेज है जमाने की।'

और तुम अपने गेसू बिखरा देती हो।
तुम जैसे जानती हो मेरे अन्तर की...

मेरे अन्दर एक सहरा है और उसमें मेरी मौन आहों का चीत्कार गूंजा किया है। चीत्कार और दिशाओं से टकरा कर लौटी हुई उसकी प्रतिध्वनियां...प्रति-प्रतिध्वनियां...

और उस सहरा में कहीं कोई नखलिस्तान नहीं जहां वह चीत्कार थोड़ी देर के लिए सुस्ता ले। अपनी प्यास लिए मैं उस शून्य, तपते सहरा में भटका किया हूं और अपनी प्यास की शिद्दत की वजह से रेत को पानी समझ बार-बार लपका किया हूं और आखिर जब हताश हो औंधे मुंह गिरा हूं तो रेत पीने पर विवश हो गया हूं...फिर आंधियां भी आईं और मुझे रेत से ढंक गईं हैं। मैं जिन्दा दफन हो गया हूं...

नहीं, मैं सिर्फ सो गया हूं। पीछे के मारवाड़ी ने मुझे खिड़की का शीशा गिरा देने को कहा है, उन्हें सिगरेट पीनी है। मैं शीशा गिरा देता हूं, बिना आंखें खोले और फिर सिर खिड़की से टिका देता हूं। मैं फिर सोने चला जाता हूं। बीच-बीच में मेरा माथा खिड़की की चिटकनी से जा टकराया है। और मैं थोड़ा सम्भल कर फिर तुम्हारे पास पहुंच गया हूं...तुम्हें आवाजें लगा रहा हूं...।

आ जाओ दीप्ति, अब थक गया हूं मैं।
हां, तोषी। सपनों में घुल गई हो तुम।
सुम्मी! आंखों के झरोखों में लिए घूमता हूं, तुम्हें...

कम्मों...बेखुदी वहां ले आई है मुझे जहां ख्याल भी ना ला सके थे...

बन्तो, रोशनी गमें दुनिया है मेरे लिए, तेरी जुल्फों के अंधेरे चाहिएं मुझे...

ये सब तुम्हारे हैं...और ये भी–हीर, जूलियट, शीरी, लैला, पारो...

तुम्हारे तो न जाने कितने नाम हैं, सिर्फ मेरा ही कोई नाम नहीं...

जब तुम मुझ तक पहुंच जाओगी तब तुमहारा एक नाम हो जाएगा। और मेरा भी। अभी तो हजारों नाम हैं तुम्हारे और मैंने सिर्फ टुकड़ों में देखा है तुम्हें...और हर टुकड़े को 'तुम' समझ आवाज दिया हूं और धोखा खा गया हूं...।तुम मिलतीं तो मुझे धोखा खाने देतीं...।

तुम आई होतीं तो मुझे रांझा, रोमियो, फरहाद, मजनूं से लेकर आथेलो, देवदास तक बनना मंजूर था। कम अज कम तब मेरे पास कुछ तो होता–किसी के नाम पर मिली मौत या मन के सहरा में यादों का एक नखलिस्तान...अब तो सिर्फ एक शून्य है मेरे अन्दर–भांय-भांय करता हुआ शून्य...।

'हमरी अटरिया आओ सांवरिया
देखा-देखा होई जाए...'

जाने कितने सपनों की कहानी है यह...

मारवाड़ी सेठ ने सिगरेट पी ली है। अब वह मुझे खिड़की का शीशा चढ़ा देने के लिए कह रहा है। मैं जागा हूं और मैंने उसके हुक्म की तामील की है...

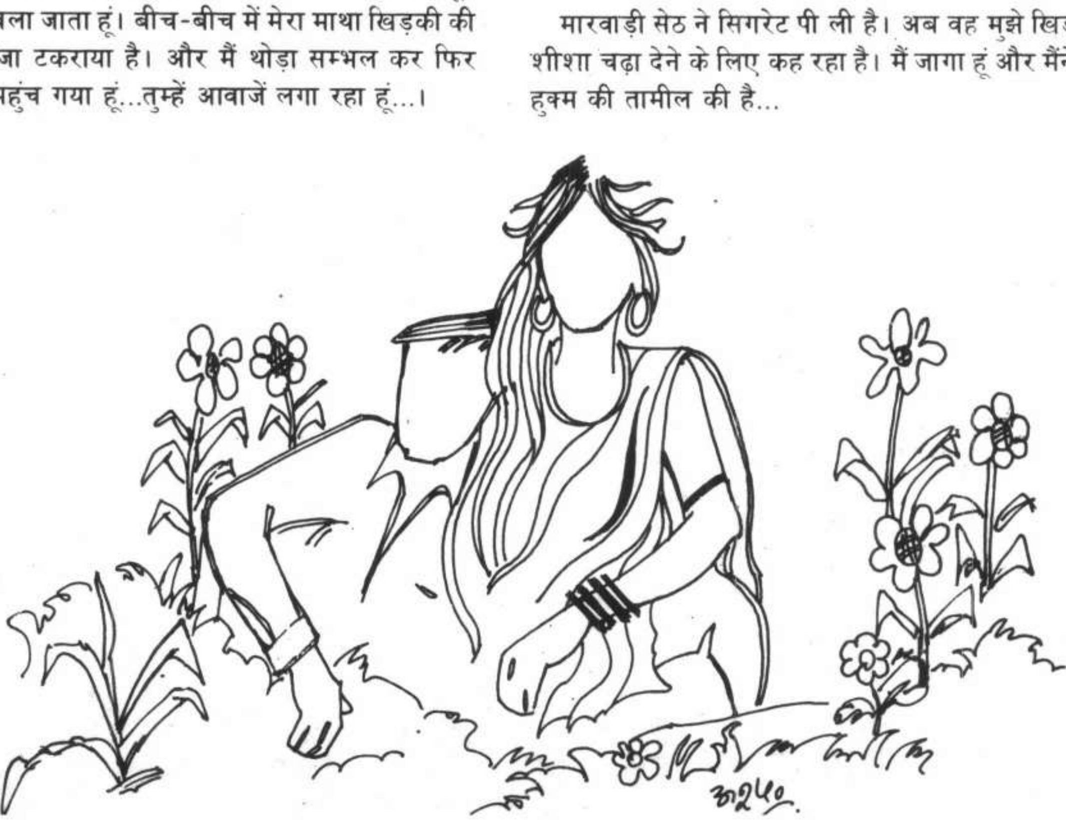

चिनारों के पत्ते झर रहे हैं। दूर से देखने पर ये झरते पत्ते हवा में ऐसे तैरते हुए महसूस होते हैं जैसे छोटी-छोटी चिड़ियों का एक झुंड हवा में कभी इधर, कभी उधर फुदक रहा हो। यह पतझड़ का आरम्भ है। और चिनार का हर पेड़ अपने रंगों की अलग-अलग कहानी कह रहा है—हरेपन से लेकर सूखने तक की प्रक्रिया के रंगों की कहानी...

मैं सोचता हूं—फूल और सितारे मेरे शब्द ही तो हैं जो ऊपर नीचे बिखर गए हैं...तुमने क्या अभी तक इनकी भाषा नहीं सुनी...मेरी नजरें हर जगह, हर वक्त तेरा दामन सहलाती रहती हैं...

''शीशा उठा दो, गर्मी...।'' पीछे से हुक्म आता है।

''क्या मुसीबत है, कभी उठा दो, कभी गिरा दो...।'' मैं झुंझला उठता हूं...

''तो क्या हुआ...?''

मैं डांट दिया जाता हूं, जैसे कभी अपने बाप की किसी बात पर किन्तु कहने पर डांट दिया जाता था। और चुपचाप फरमाबरदार बच्चे की तरह शीशा उठा देता हूं। फिर सोने की कोशिश करता हूं। पर थोड़ी देर बाद ही मेरा माथा खुली खिड़की की सिटकनी से जा टकराता है।

इस बार मैं आंखें पूरी तरह खोल देता हूं। मेरे आगे बैठे पंजाबी पति की नजरें मुझ पर टिकी हैं। वह मेरी मुश्किल शायद समझ गया है। थका हुआ हूं, सोना चाहता हूं पर सोने नहीं दिया जाता है, शायद यही सोच कर वह प्यार से मुस्कराता है। मैं भी जवाब में मुस्कराने की कोशिश करता हूं। उसकी पत्नी को उनींदी आंखों से देखता हूं और फिर मसलहतन बाकी जोड़ा सवारियों को।...

बस तो चली जा रही है और मैं मानसबल झील के किनारे स्वयं को बैठे पाता हूं...

झील में एक दूसरी झील देखता हूं मैं—पानी, पानी पर बनी टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियां, किनारों पर डोलती किश्तियां, पेड़ों और पहाड़ों के कांपते हुए साए, एक रूपहला-सुनहला स्वप्निल विस्तार...और मैं किनारे पर बैठा-बैठा उस तिलस्म में डूब जाता हूं और मुझे लगता है—झील में से सुल्फे की लाट-सी एक परी निकल रही है—मैं देखता रहता, देखता रहता हूं...और इस फैंटेसी को लेकर फिल्म बनाने की सोचता हूं पर तभी...मुझे अपना अन्तर भीगा-भीगा महसूस होता है। लगता है रुलाई मेरे गले तक पहुंच गई है...

हां, तुम्हें ढूंढते-ढूंढते अब मैं थक गया हूं...अब मैं तुम्हें नहीं ढूंढ सकता...ऐसा क्यों नहीं करतीं कि तुम ही मुझे ढूंढ लो...मैं तो चलते-चलते जिस चौराहे पर पहुंचता हूं। भटक जाता हूं...न जाने कौन-सी सड़क तुम्हारे दरवाजे तक जाती है, यह सोचते-सोचते जो भी रास्ता पकड़ता हूं, वह तुम्हारे घर तक नहीं जाता होता—आगे फिर एक चौराहा आ जाता है और मैं फिर भटक जाता हूं...भटकने का यह क्रम खत्म ही नहीं होता...

तुम्हीं मुझे ढूंढ लो ना...अपने घर से निकल तुम जिस किसी चौराहे पर भी पहुंचोगी, वहीं मुझे खड़ा पाओगी...तुम्हें रत्ती भर भी तकलीफ न होगी...

बस रुकने लगी है...

दरवाजे के पास वाली सीट पर बैठा जोड़ा उतरने की तैयारी में है। मेरे आगे की सीट पर बैठे जोड़े में खुसर-फुसर होने लगी है। पत्नी पति को खाली होने वाली सीट लेने के लिए उकसा रही है, पति टालना चाहता है—अब बैठे हैं तो बैठे हैं।

पर बस के रुकने पर जब वह दरवाजे की सीट वाला जोड़ा उतर जाता है तो पत्नी पति को नीचे उतर गए कंडक्टर से पूछ कर सीट बदलने पर राजी कर लेती है। पिछले स्टाप पर उनके साथ तीसरी सवारी आ बैठी थी और वे लोग शायद कुछ तंग महसूस करने लगे थे।

मुझे प्यास लग आई थी, पर सुस्ती की वजह से नीचे उतरने को मन नहीं हो रहा था। मैंने जेब से टाफी निकाल मुंह में डाल ली। मैं आगे के जोड़े को बतौर इस मुस्कराहट के शुक्रिए के जो पति ने मुझे दी थी, टाफी पेश करना चाहता था। पर मियां तो नीचे उतर चुका था और अकेली बेगम को टाफी पेश करना मुझे ठीक न लगा। पर सिगरेट के लिए जब दूसरी बार मैंने जेब में हाथ डाला तो हाथ फिर टाफियों पर जा पड़ा। मैंने टाफियां निकाल लीं और फिर जेब में डाल लीं। पर मैं अधिक देर तक स्वयं को रोक नहीं सका और एक टाफी निकाल अकेली बेगम को पेश कर ही दी—

''टाफी लेंगी आप?''

उसके चेहरे से ऐसा तो नहीं लगा कि मैंने कोई अनपेक्षित धृष्टता की हो पर उसने मुंह घुमा लिया और साथ ही कहा—

''नो थैंक्स! (जरा-सा रुककर)...थैंक्स!''

मैंने टाफी जेब में रख ली और चुपचाप बैठ गया। इतने में कंडक्टर ने आकर बोल दिया कि बस यहां बीस मिनट रुकेगी। बस तब तक अन्दर अड्डे में आ चुकी थी।

अब बीस मिनट तक बस में दुबके रहना कठिन था। मैं बिना किसी ओर देखे नीचे उतर आया और पेशाब करने के लिए सामने वाले पेशाबघर की ओर गया। पेशाबघर अपने नाम से भी अधिक कुछ और बना हुआ था। भीतर घुसने का मन नहीं हुआ। मैं बाहर ही खड़ा हो गया। पर आस-पास नजर गई तो हालत बाहर भी कोई बेहतर नहीं थी। ध्यान बंटाने के लिए मैं बाईं ओर रास्ते की ओर देखने लगा। धूल में दो गधे लोट-पोट हो रहे थे। धूल के गुब्बार को काटती हुई मेरी नजरें सामने की ऊंची मेड़ से जा टकराईं और फिर साथ के पेड़ों पर फिसल गईं। उस पार खेत होंगे, मैंने सोचा।

लौटते हुए मैंने पीछे घूमकर देखा और सोचा, उस पार जाया जा सकता है, मेड़ के उस पार। पर तभी मेरी नजरें पेशाबघर के बाहर की इबारत पर पड़ गईं। लिखा था—'आगे रास्ता बन्द है।'

अब मेरे पास बस के पास से ही बाजार के चौराहे की तरफ जाने के सिवा कोई चारा नहीं था। मुझे प्यास फिर लग आई थी। मैंने साथ वाली दूकान से बब्बू-कोशे खरीद लिए। खाने के बाद हाथ चिपचिपे हो गए तो उन्हें धोने की जरूरत महसूस हुई। मुझे फिर पानी चाहिए था। सामने पान वाले की दुकान की ओर बढ़ चला और बढ़ते-बढ़ते सोच गया—अब इसके आगे मुझे यूं करके हाथ फैलाने पड़ेंगे।

मैंने हाथ फैला दिए और बाल्टी में पड़े पानी की तरफ इशारा कर दिया। बोला कुछ नहीं।

"क्या चाहिए?"

"पानी", मैंने धीमे से कहा और फिर बाल्टी की तरफ इशारा कर दिया।

"पीछे करो हाथ।"

उस छोटे-से लड़के ने एक तरह से मुझे दुत्कार दिया।

लौटती बार मैंने सोचा—मुझे उससे कुछ खरीद लेना चाहिए था...पर खरीदने से भी क्या सब कुछ मिल जाता है? तुम्हें कहां से खरीदूं...?

थोड़ी देर बाद बस अपनी ओर बढ़ती हुई दिखाई देती है।

मैं बस में चढ़ने लगता हूं तो देखता हूं कि मेरे आगे की सीट वाले जोड़े ने जगह बदल ली है और वह दरवाजे के पास वाली सीट पर आ गया है। पत्नी अपने मिशन में सफल हो गई थी।

मेरे बस में चढ़ते ही पति अजीब नजरों से मुझे देखता है। मुझे लगता है जैसे उसकी पत्नी ने उसे टाफी वाली बात बता दी है। मैं चुपचाप अपनी सीट की ओर बढ़ जाता हूं। किसी ओर नहीं देखता। अब उसकी कोई जरूरत भी नहीं रह गई है।

मेरे आगे वाली सीट पर अब तीन अजनबी बैठे हुए हैं। मैं उनके सिरों की तरफ एक बार देखता हूं और सोचता हूं—मेरी चोरी पकड़ी गई है।

आजकल का चंदा

एक प्रति 2 रुपए; वार्षिक 20 रुपए; द्विवार्षिक 36 रुपए तथा त्रिवार्षिक 48 रुपए मात्र।

छात्रों, अध्यापकों और पुस्तकालयों के लिए चन्दे में 10 प्रतिशत की छूट। इसके लिए प्रमाण-पत्र भेजना आवश्यक है।

आजकल के नियमित ग्राहकों को प्रकाशन विभाग की 5 रुपए या अधिक मूल्य की पुस्तकें खरीदने पर 10 प्रतिशत छूट दी जाती है।

चन्दे एवं विज्ञापन तथा पत्रिका न मिलने की शिकायत भेजने का पता — व्यापार व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नई दिल्ली। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार : सम्पादक 'आजकल' (हिन्दी), पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001, दूरभाष : 387069

पीछे मारवाड़ी सेठ ने ट्रांजिस्टर चला रखा है। 'ए कातिबे तकदीर मुझे इतना बता दे', सहगल की आवाज मेरे कानों में पड़ती है।

हो सकता है मुझे टाफी देते हुए बाकी लोगों ने भी देखा हो, मैं सोचता हूं और खुद में अधिक सिमट जाता हूं।

'जलते हैं जिसके लिए मेरी आंखों...पी.-पीं...'

"साला गेयर की आवाज पकड़ता है।"

सेठ ने गाली के साथ-साथ ट्रांजिस्टर बन्द कर दिया है।

बस चल चुकी थी।

सफर खत्म होने को हो रहा है। पर रात भी तो उतर आई है।

बस चली जा रही है। नहीं, भागी जा रही है। पर, सफर कहां खत्म होता है...

मैं आंखें बन्द कर लेता हूं पर सोच लेता हूं कि सोऊंगा नहीं। सो भी गया तो सपना नहीं लूंगा। सिर्फ वह करूंगा जो मेरे हिस्से में आया है यानी इंतजार—तुम अपने घर से चल कर किसी चौराहे पर भी आ जाना...। □

बी-1-ए/60-ए,
जनकपुरी, नई दिल्ली-110058

साक्षात्कार

दिनकर सोनवलकर

उस एक क्षण की
प्रतीक्षा करो–
वह दुर्लभ क्षण
जो अपने पारस-स्पर्श से
कण-कण को कर दे
सुवर्ण,
ऐसा वह साक्षात्कार,
आसानी से घटित नहीं होता–
भीतर ही भीतर
गलने दो अहंकार
तीव्रतम होने दो,
अनुभूति का ज्वार...
किसी उत्कट क्षण में
ठीक ठीक सध जाएगा सुर,
और अकस्मात ही
फूट पड़ेगा बोध का अंकुर
शुरू हो जाएगी प्रक्रिया
विसर्जन की
खिल उठेगा फूल–
अभिव्यक्ति का। □

शासकीय महाविद्यालय,
जावरा-म. प्र.-457226

कविता शब्द नहीं है

सुरेश शर्मा

कविता रोटी नहीं है
न ही कपड़ा
जिसे आप खाएं
ओढ़ें या बिछाएं
यह बच्चों की फीस
या किताब नहीं है
जिसे वे पढ़ें
पढ़ें और बढ़ें
कविता
शोहदों में फंसी लड़की
के लिए
चाकू नहीं होती
बीमार बाप या बच्चों की
दवाई नहीं होती,
कविता
कोई 'नौकरी' नहीं है!
फिर भी
एक बात है कविता,
वह उठाती है प्रश्न
आप क्या खाएं
ओढ़ें या बिछाएं
शोहदों में फंसी लड़की का
पता होती है कविता
यह जमीन में
बोती है शब्द
अंधेरे के खिलाफ
और सुबह होने तक
इसके साथ होते हैं
हजार हाथ!

द्वारा–सौरभ स्टोर,
पो. मनासा,
जि. मन्दसौर (म. प्र.)

कविता कब होती है

विजय बैरागी

क से कथ्य
वि से विन्यास
ता से ताल
इनके संयोग से
पैदा हो भूचाल...
तो होती है कविता!

मनासा 458110
मन्दसौर (म. प्र.)

अंकुर

सत्यनारायण सारु

धरती की छाती चीर
निकलता है अंकुर,
अंकुर जो जीवन है...
निष्प्राण है शब्द
कविता के बिना!

सिलावटी गली, मनासा,
जिला मन्दसौर (म. प्र.) 458110

यदि पेट ही होता हमारा अभीष्ट

पूरन सहगल

यदि पेट ही होता हमारा अभीष्ट
तब पंख फड़फड़ाकर
न जूझता कोई तोता
आजादी के लिए
अपने खूबसूरत परों को
न करता लहूलुहान...
दूध रोटी खाता
झूले में झूलता!
कभी न देख पाता वह नीला आकाश...
लेकिन तोते के अंदर भी
एक कविता है
जो एक स्वच्छंद उड़ान भर पाने के लिए
बेचैन करती है उसे! □

मनासा, मन्दसौर (म. प्र.)-458110

किरन

शिवशंकर 'मिशिर'

किरन
ज्यों धो गई सिहरन!
तन हुआ थिर,
और मन फिर
भर गया अनुराग से;
आंख चमकी,
गई छू-सी
उंगलियां कि पराग से;
खड़ी
उठ हो गई विरहन!

पुंछ गया उर,
जगे नव सुर,
सरल वाणी हो गई;
नमन में नत,
लुटी-लुटी शत,
आंसुओं पद धो गई;
धूल
हो ली आज पावन! □

327/बी, कडरू, रांची-834002

नदी

हेमेन्द्र चण्डालिया

पिंडलियों तक बहते पानी में
घुटनों के बल बैठ
सिर डुबोने का प्रयास करते
किसी भी सुलभ
नाली अथवा नाले को
नदी मान लेना
आत्मवंचना नहीं तो क्या है?

नदी के बीच से
नदी को मत देखो
देखना है पूरा सच तो
किसी ऊंचे शिखर पर पहुंचो
तब देखो।

नदी को देखना है तो
वहां से देखो
जहां वह नदी नहीं रहती
देखो, जीवन के पार
मृत्यु के महासागर से
आत्मानुरागी अहंकार के तटबंध
कितने हास्यास्पद
कितने बौने लगते हैं?
कितना बचकाना लगता है
दो चट्टानों के बीच
लेट या बैठकर
प्रवाह को रोकने का प्रयास?
यहां से देखो जीवन को
उसकी गति को समझो
उसके अंत को जानो
तब स्वतः ही
सब कुछ समझ जाओगे तुम।
नदी के तट पर पड़े
चिकने-चमकीले पत्थरों का मोह
कितना निरर्थक है,
कितना निरर्थक है
रेत पर
उसी भ्रम को बार-बार लिखना
जो तुम्हें सत्य लगता है।

अगर सच जानना है तो
नदी को नदी से परे हट कर देखो। □

सी-220, प्रतापनगर,
उदयपुर-313001 (राज.)

वसंत गीत

गंध - फूल

तारादत्त निर्विरोध

आंखों में सपन नहीं झाड़ी के उगे शूल,
नील कमल बौराए पलकों पै झूल-झूल।
ककरेजी सांझ-किरण
फिसल रही पातों से,
करइल के रूप रचे
अधकचरी बातों से।
धूसर में लिपट रहे अलसी के गंध-फूल।

अनबोली रंगीनी
चुन्नट-से बंधे फाग,
सूनी-सी पगडंडी
खोए-से गीत-राग।
माखनिया देती पर उन्नाबी ये दुकूल।

शंका के गौर वर्ण
तृष्णा के भित्तिचित्र,
कुंठित अनुराग और
असमय के नए मित्र।
शब्दों में भेंट रहे नागफनी या बबूल।
नील कमल बौराए पलकों पै झूल-झूल। □

1282, खेजड़े का रास्ता,
जयपुर (राजस्थान)

सुबह के पहले

जयप्रकाश पाण्डेय

शुक्र का उपेक्षित होना,
इस बात का गवाह है,
कि चांद को सबने सराहा,
यामिनी के अन्तिम पहर,
मैंने बार-बार शुक्र से बातें की हैं,
उसमें एक ओज, एक निखार,
एक उमंग भरा दिल देखा है,
मैंने उससे दिल की बातें की हैं,
उसके फीके-फीके पड़ने पर,
उसके मन की अंतर्व्यथा को समझा है,
उसकी क्षणिक जवानी को देखा है,
उसके उपेक्षित रहे आने को,
मैंने मन ही मन सहा है,
शुक्र मैंने तुझे प्यार किया है,
शुक्र मैंने तुम्हें समझाया है,
कि पौ फटने पर,
अंधेरी चट्टानों में भी दरारें पड़ेंगी,
फिर सुबह के चेहरे पर,
जिन्दगी की लालिमा बिखरेगी। □

भारतीय स्टेट बैंक, क्षेत्रीय कार्यालय क्षेत्र-3,
सिविक सेंटर, जबलपुर-482002

ग़ज़ल

ज्योतिष जोशी

बच्चा-बच्चा राम हो गया।
मंदिर-मंदिर धाम हो गया।।
सोच-सोचकर थका आदमी।
जीना यहां हराम हो गया।।
मर-सी गई यहां भावुकता।
रिश्ता यहां नाकाम हो गया।।
खून-खून में भेद बढ़ गया।
हर चेहरा बदनाम हो गया।।
गरजपरस्ती के आलम में।
पूरा देश तमाम हो गया।।
अब क्या प्यार रहेगा जबकि
सोच-समझ बादाम हो गया।। □

आदमी का खून पीता आदमी।
आदमी बहशी सरीखा आदमी।।
कत्ल करता रंजोगम का अश्क ले।
आबरू से खेलता भी आदमी।।
क्या मोरव्वत क्या वफा इसकी जगह।
जुर्म का ढाता कहर यह आदमी।।
बेचता ईमान सस्ते दाम पर।
धर्म का ठेका लगाता आदमी।।
आदमी पढ़ना नहीं मुमकिन यहां।
आदमी के बीच है यह आदमी।। □

एस-1085, मंगोलपुरी, नई दिल्ली-110083

कु. अंजली कटारिया

उम्र : 24 वर्ष

शिक्षा : एम. ए. (समाजशास्त्र)

सम्प्रति : समाजशास्त्र विषय में (पी-एच.डी.) शोधकार्य में संलग्न

पता : 193, गुरुनानकपुरा, नजदीक परनामी मंदिर, जयपुर-302004

अभिव्यक्ति

सशक्त लेखन की चाह में
अक्षर-अक्षर जोड़
कभी गद्य–कभी पद्य बना लेता हूं
इसी तरह
जिन्दगी के अनुभव दोहरा लेता हूं
कभी अतीत को
पन्नों पर उतार देता हूं
कभी वर्तमान को
आंसुओं से नहला देता हूं
कभी भविष्य को
सुनहरे, सुन्दर रंगों में भर देता हूं
फिर भी जाने क्यूं
चाहत के पल लेखन में बांध नहीं पाता
अनकहे, अनबूझे शब्द
मेरे गर्म-गर्म लहू में
हलचल मचाए रखते हैं
लेखनी में अभिव्यक्त होने से पहले ही
धब्बे-धब्बे हो जाते हैं
मेरे ख्याल मेरे जजबातों को निगल जाते है
मेरे विचारों की गति
मेरी हथेलियों को जड़ बना देती है
एक कविता लिखने की चाह में
जाने किस अहसास से गुजर जाता हूं
आक्रोशित मन चिल्ला उठता है
कहां से लाऊं कविता शब्दों में
कविता तो मेरी नस-नस में समाई है। □

आत्मकथ्य : **कुछ अनजानी अनुभूतियों से त्रस्त हो संवेदना के मार्मिक क्षणों में जानती नहीं किन संचित अनुभवों का संगम कब कविता का रूप ले लेता है और मन की अंतहीन घुटन, आक्रोश यही सब काव्य सृजन को बांधते हैं।**

मनोरंजन प्रसाद

शिक्षा : एम. ए. (राजनीति विज्ञान) बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

पता : द्वारा श्री सुनील ठाकुर, मझौलिया रोड, रसुलपुर जिलानी, मुजफ्फरपुर (बिहार)

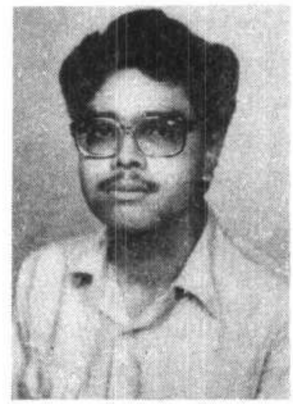

आत्मकथ्य : **भावना की अभिव्यक्ति एक मजबूरी है। हृदय की संवेदना का सुन्दर खुलाव ही मेरे लिए कविता है।**

दोषी कौन?

गरीबी की पाठशाला में
भुखमरी के गुरु ने
जो दो-चार शब्द उसे सिखाए
उसमें नैतिकता का नाम नहीं है
– तो उसका दोष क्या है?

भर-पेट खाकर कपड़ों में सुसज्जित
नेता जी कहते हैं–
'यह मिट्टी भारत माता है।'
खाली पेट उसे
अपनी माता भी दूसरी दिखती है
और मिट्टी धूल गर्द से ज्यादा कुछ नहीं
– तो उसका दोष क्या है?

उसकी लड़ाई अब आदमी से नहीं है–
कुत्ता उसका प्रतिद्वन्द्वी है
ढाबे की जूठन वह खाएगा या कुत्ता–
यह तो 'किस्मत का खेल' है!
पेट की आग और कुत्ते का साथ–
– उसका दोष क्या है? □

निराला के समय की भेंट-वार्ता

जयगोपाल मिश्र

कुलभूषण पं. रमादत्त जी शुक्ल से बात करने के उपरान्त आज मैं 'वप्पा जी' यानी पूज्य पंडित देवीदत्त जी शुक्ल के सम्बंध में कुछ महत्वपूर्ण संस्मरण प्रस्तुत कर रहा हूं जो उन दिनों के हैं जब मेरे कवि गुरु महाकवि निराला दारागंज, इलाहाबाद में रहा करते थे और जिनके बारे में 'वप्पा श्री' सदा चिन्तित रहा करते थे।

उन दिनों 'जूही की कली' के रचयिता बैसवारे के श्री पण्डित सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का स्वास्थ्य गिर रहा था तथापि उनकी रचना-प्रक्रिया में कोई अन्तर न था, यद्यपि उनकी दाहिनी भुजा ऊपर उठने से इन्कार कर चुकी थी तथापि वे हमारे प्रयासों के कारण 'अर्चना' कृति का कलेवर गीतों के माध्यम से अपनी आत्म-कथा ही दे रहे थे। एक-एक करके उन गीतों को हम कभी धर्मयुग में, कभी साप्ताहिक हिन्दुस्तान में और दो बार 'आजकल' में प्रकाशनार्थ भेजा भी था। सब रचनाएं छपती रहीं, हिन्दी जगत तब बड़ा प्रबुद्ध था, उसे पढ़ने के बाद लिखकर पूछने की जिज्ञासा रहा करती थी कि महाकवि का क्या हाल है? स्थानीय महापुरुष प्रायः उनसे मिलने जाते तो वे 'रिटर्न-विजिट' नाम से उनके पास अवश्य जाते। साथ में मैं होता या मेरे अनुज डा. शिवगोपाल मिश्र हुआ करते, जो बाद में डा. उदयनारायण तिवारी के जामाता तथा विज्ञान विभाग में प्रयाग विश्व विद्यालय के रीडर से लेकर अब शीलाधर मृत्तिका विज्ञान संस्थान के निदेशक ही नहीं, अपितु हिन्दी के जाने-माने लेखक और सूफी कवियों की कृतियों 'मृगावती', 'मधुमालती' के अन्वेषक और सम्पादक-प्रकाशक भी हैं। गर्जे कि एक दिन महाकवि की आज्ञा हुई कि 'वप्पा श्री' के पास चला जाए। चूंकि निराला जी रिक्शे की सवारी नहीं करते थे इसलिए हम तांगा लेकर उपस्थित हुए, जिसका घोड़ा कलाराश था और चालक भी साफ-सुथरा जानकर मैं ले आया था।

इतने ही में उन्हें देखने, उनकी तबीयत के लिए सदा सचेष्ट रहने वाले आयुर्वेद पंचानन पंडित जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल पधार गए, जिनकी आयुर्वेद की दवा महाकवि ले रहे थे और जिन पर उनकी अटूट श्रद्धा थी। पूज्य शुक्ल जी को जब ज्ञात हुआ कि मैं उन्हें पं. देवीदत्त शुक्ल सम्पादकाचार्य से मिलने की इच्छा से ले जा रहा हूं तो वे भी साथ हो लिए।

दो महान पुरुषों को लेकर मैं पूज्यपाद 'वप्पा श्री' के पास पहुंचा। देखते ही वे इतने विभोर हो गए कि केवल इतना ही बोले कि मुझे क्या पता था कि निराला जी के साथ उनके चिकित्सक भी आने की कृपा करेंगे।

आयुर्वेद पंचानन पंडित जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल ने कहा कि आपका दर्शन बैसवारे की समूची धरती का मैं प्रतीक मानता हूं फिर साथ में जब निराला जी हों तो कहना ही क्या क्योंकि 'बैसवारा' ने सर्वप्रथम 'सरस्वती' के सम्पादक पंडित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के कारण महाकवि 'निराला' को 'जूही की कली' से उठाकर 'गुलाब' तक पहुंचा दिया था।

हम तो अन्तरवेद (गंगाजमुना के बीच बसे फतेहपुर) के निवासी हैं तथापि हमारी सबकी निष्ठा, प्रतिष्ठा तथा प्रांजलता के लिए सदा बैसवारे की धरती मानी जाएगी क्योंकि हम सब उधर से ही इधर नेवासों पर आकर बसे थे।

निराला जी अब तक चुप थे किन्तु 'नेवासे' शब्द से उन्हें करेण्ट जैसे लगी और उन्होंने कहा कि दोनों ही आप शुक्ल पक्षीय हैं भला मैं इस पर क्या प्रकाश डालूं, तथापि आप दोनों को यह मानकर चलना पड़ेगा कि बैसवारे से साहित्य, राजनीति, रणनीति पनपी और सारे देश में फैली। कहते-कहते बोल गए "पूरा मध्य प्रदेश हमारी संस्कृति है। लीजिए पंडित रविशंकर शुक्ल को देखिए, पंडित द्वारका प्रसाद मिश्र को साहित्य में लीजिए, डाक्टर रामविलास शर्मा को, इतिहास में पंडित कृष्णदत्त वाजपेयी को, इतना ही नहीं इन सबके मूल में थे पूज्य पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी और उसी स्रोत के प्रवहवान मूर्ति आप हैं—साक्षात् 'देवी' के 'प्रदत्त' चन्द्रमौलि चन्द्रचूड़ तथा विदग्ध महान चिंतक, साधक और साधना के स्रोत।"

थोड़ी देर तक इन तीनों महापुरुषों की त्रिवेणी मेरे लिए चित्ताकर्षक बनी रही किन्तु इतने ही में निरालाजी ने 'वप्पा श्री' से आज्ञा मांग ली कि आज तो सिर्फ इतना ही, बाद में मिलेंगे।

उसके बाद, उसी के बाद निराला जी बीमार रहने लगे और ऐसी त्रिवेणी का पुनः संगम मैं न करा सका। किन्तु जो 'गीत' उन्होंने वहां से लौटने के बाद लिखा था उसे मैं उन्हीं की लेखनी का अविकल प्रस्तुत कर रहा हूं ताकि सुधी जन अनुमान लगा सकें कि बड़े आदमियों के मिलन से कैसे स्रोत फूट निकलते हैं:

वह चलने से तेरे छुटा जा रहा है।
इसी सोच से दम घुटा जा रहा है।
तेरे दिल की कीमत चुकाने से पहले,
तरह पानी की नेह फुटा जा रहा है।
पता उसकी दुनिया का कैसे लगाएं,
सितारे-सितारे टुटा जा रहा है।
यह क्या मौज है रूप से रंग से भी,
लिए जा रहा है, लुटा जा रहा है।
ललक कर किसी से कभी जो न लिपटा,
मरा धान जैसा कुटा जा रहा है।

इस चलाचली के वेला में तीनों चले गए। लेकिन निराला जी छाप छोड़ते गए कि चलने से पहले घुटा जा रहा है और इस वियोग की परिकल्पना करके वे लिखते हैं कि 'दम घुटा जा रहा है।'

इस ग़ज़ल में उन्होंने पूज्य पंडित देवीदत्त जी शुक्ल का पूरा चित्रण किया और मुझे कहा कि इसे पं. जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल को सुना देना।

मैंने आज्ञा का पालन किया और स्थायी दस्तावेज की तरह इसे आज तक सुरक्षित रखा है। □

25/27, कानपुर रोड,
शेर कोठी, इलाहाबाद-211001

समर्पित पत्रकार पंडित देवीदत्त शुक्ल

सुभाष चन्द्र 'सत्य'

हमारे देश में पत्रकारिता का इतिहास बहुत प्राचीन नहीं है, किंतु अपने अस्तित्व के अल्प काल में भी भारतीय पत्रकारिता, विशेषकर हिंदी पत्रकारिता ने प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है। इस समय हिंदी पत्र-पत्रिकाओं की प्रसार संख्या देश में अंग्रेजी सहित अन्य सभी भाषाओं की तुलना में सर्वाधिक है तथा हिंदी भाषी राज्यों में निरक्षरता का प्रतिशत सबसे ऊंचा होने के बावजूद पाठकों की संख्या निरंतर बढ़ रही है। पत्रकारिता के क्षेत्र में योग्य, परिश्रमी तथा प्रतिबद्ध युवक-युवतियां प्रवेश कर रही हैं, जिससे अन्य जन संचार माध्यमों से कड़ी प्रतिस्पर्धा के बावजूद पत्रकारिता का भविष्य उज्ज्वल दिखाई देता है। हिंदी पत्रकारिता को सफलता के शिखर तक ले आने में अनेक तपस्वी ओर कर्मठ पत्रकारों व मनीषियों ने अपना जीवन होम किया है।

हिंदी में इस प्रकार के श्रेष्ठ पत्रकारों की बहुत लंबी सूची है। इन्हीं स्वनामधन्य पत्रकारों के तारामंडल में चमकने वाला एक सितारा था पंडित देवीदत्त शुक्ल, जिनकी जन्म शताब्दी हाल में मनाई गई। अपने समय की सर्वाधिक लब्ध-प्रतिष्ठ पत्रिका 'सरस्वती' का लंबे समय तक सफल संपादन करके हिंदी साहित्य तथा साहित्यकारों का मार्ग दर्शन करने और साहित्य व पत्रकारिता को नई ऊंचाइयों पर स्थापित करने वाले बहुमुखी प्रतिभा संपन्न विद्वान पंडित देवीदत्त शुक्ल का जीवन आज भी प्रेरणादायक और सार्थक है।

प्रारंभिक जीवन

शुक्लजी का जन्म 13 अप्रैल 1887 को उत्तर प्रदेश में बैसवाड़े क्षेत्र में गंगा तट पर स्थित बक्सर गांव में, कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनके पिता पंडित कामता प्रसाद वैराग्य प्रवृति के व्यक्ति थे और वे घर से दूर अलग कुटिया में रह कर तपस्वियों जैसा जीवन बिताते थे। बचपन में देवीदत्त शुक्ल पर आर्य समाज का प्रभाव पड़ा, किंतु उच्च शिक्षा के लिए जब वे काशी गए तो उनकी आस्था शाक्त धर्म में अधिक हो गई। काशी में उन्होंने इंटर तक शिक्षा प्राप्त की।

समर्पित पत्रकार

यह सत्य है कि शुक्लजी की इंडियन प्रेस में नियुक्ति संयोगवश हुई, किंतु उनके भीतर का साहित्यकार, हिंदीसेवी और पत्रकार यहां अपने अनुकूल वातावरण तथा द्विवेदी जी जैसे मंजे हुए संपादक का सान्निध्य पाकर सजीव हो उठा और यह स्थान उनके जीवन की मुख्य कर्मस्थली सिद्ध हुआ। पंडित देवीदत्त शुक्ल 1919 में इंडियन प्रेस में नियुक्त हुए और 1947 तक इससे सक्रिय रूप से सम्बद्ध रहे। शुक्लजी को सबसे पूर्व शिशु मासिक 'बाल सखा' के संपादन का दायित्व सौंपा गया। इस दायित्व को निभाते हुए जो समय बचता उसमें वे स्वाध्याय के साथ-साथ लेखन कार्य करते। उनका कहना था कि साहित्यकार तथा पत्रकार की भूमिका को सफलतापूर्वक निभाने के लिए स्वाध्याय अनिवार्य है। उन्हीं दिनों उन्होंने 'मध्य प्रदेश का इतिहास' पुस्तक लिखी और शरतचंद्र चटर्जी के उपन्यास 'गृह दाह' का अनुवाद किया। उन्होंने संपादन के साथ-साथ 'बाल सखा' के लिए 32 रचनाएं भी लिखीं। सन् 1921 में पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती के संपादक के रूप में अवकाश ग्रहण किया तो बाबू पदुम लाल पुन्नालाल बख्शी को संपादक का दायित्व सौंपा गया और पं. देवीदत्त शुक्ल को सहायक संपादक बनाया गया।

शुक्लजी 1925 तक सहायक संपादक के रूप में बख्शीजी को पूर्ण सहयोग देते रहे। वे प्रूफ पढ़ते, अंग्रेजी लेखों का अनुवाद करते और अच्छे स्तर की रचनाएं न मिलने पर कभी-कभी स्वयं रचनाएं भी लिखते। यहां यह उल्लेखनीय है कि शुक्लजी ने 'बाल सखा' का संपादन करते हुए ही 'सरस्वती' के सहायक संपादक के दायित्व का पूर्ण निष्ठा के साथ निर्वाह किया। पत्रकारिता और साहित्य के प्रति गहरी निष्ठा तथा सच्ची लगन के कारण ही वे दोनों दायित्वों को कुशलता के सथ सहर्ष संपन्न करते रहे। सोने पे सुहागा यह कि उन्होंने 'सरस्वती' के लिए लेख लिखने का क्रम भी जारी रखा। वे कितने परिश्रमी तथा अध्यवसायी थे, इसका अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि सहायक संपादक के रूप में उन्होंने सरस्वती के लिए 164 लेख लिखे।

1925 में बख्शी जी ने सरस्वती के संपादक का पद छोड़ दिया। तब नए संपादक के लिए खोज शुरू हुई। सरस्वती का संपादक पद उस समय हिंदी साहित्य में सर्वाधिक प्रतिष्ठित पद था, अतः अनेक दिग्गज लेखकों तथा पत्रकारों ने इसके लिए आवेदन किया। नए संपादक के चयन का भार महावीर प्रसाद द्विवेदी को ही सौंपा गया। उन्होंने सभी आवेदनों को अस्वीकार करते हुए पंडित देवीदत्त शुक्ल को यह दायित्व सौंपने की सिफारिश की। 1925 में शुक्लजी को स्वतंत्र रूप से सरस्वती का संपादक बना दिया गया और उन्हें 'बाल सखा' के संपादकत्व से मुक्त कर दिया गया। शुक्लजी के लिए यह गौरव-युक्त चुनौती थी, जिसे उन्होंने अपने प्रति द्विवेदीजी के विश्वास तथा स्नेह की देन मानकर सहर्ष स्वीकार कर लिया। 'सरस्वती' का कार्यभार संभालते ही उन्होंने उसे और लोकप्रिय बनाने के लिए उसमें कुछ परिवर्तन करने शुरू कर दिए। उनके सामने पाठकों की बदलती हुई अभिरुचि के अनुरूप विषय चयन तथा प्रस्तुतीकरण में व्यापकता और विविधता लाकर पत्रिका को नई पीढ़ी के पाठकों में लोकप्रिय बनाने की चुनौती थी।

इसी बीच मार्च 1927 में बख्शीजी वापस आ गए और फिर से 'सरस्वती' का संपादन करने लगे। पं. शुक्ल बिना किसी आपत्ति या संकोच के पुनः सहायक संपादक के रूप में कार्य करने लगे। किंतु बख्शीजी तब भी स्थिर भाव से कार्य नहीं कर सके। पत्रिका

पब्लिकेशन्स डिवीजन
मिनिस्ट्री ऑफ़ इन्फॉर्मेशन ऐंड ब्राडकास्टिंग

टेलीफोन: ४००२१।६१
तार: पब्लिकफॉर
१२३ नार्थ एवेन्यू
~~ओल्ड सेक्रेटेरियट~~
नई दिल्ली

३-६-५४

प्रिय शुक्लजी,

अत्यन्त कृतज्ञ होऊंगा यदि आप 'आजकल' के द्विवेदी अंक के लिए अपने परामर्श किसी से लिखवा कर भेज दें। मैंने बड़े दुःख के साथ सुना था कि आपको नेत्रों का कष्ट है। इसलिये शायद आप स्वयं तो कुछ लिख न सकेंगे। ज्ञानपीठ, काशी ने द्विवेदी पत्रावलि प्रकाशित की है पर उसमें अनेक महत्वपूर्ण पत्र छूट गए। मैंने ज्ञानपीठ वालों को लिखा है कि उसका द्वितीय भाग और प्रकाशित करें। अभी उनके यहां से कोई पत्र नहीं आया है।

मेरी भी तबीयत इधर कुछ ऐसी ही चल रही है।

विनीत,
बनारसीदास चतुर्वेदी
(बनारसीदास चतुर्वेदी)

श्री देवदत्तजी शुक्ल,
द्वारा - इण्डियन प्रेस लि०,
इलाहाबाद

क्या आपको प्रथम पूज्य - हम सबके पूज्य
[illegible] जी तथा द्विवेदी जी के
[illegible] वाली घटना याद
है? उसे आपने कुछ [illegible]
कि किस प्रकार [illegible] जी ने
उन्हें प्रणाम किया।

'आजकल' के 'द्विवेदी' अंक हेतु श्रद्धेय चतुर्वेदी जी के शुक्ल जी के नाम पत्र

के संपादक के रूप में नाम भले ही बख्शीजी का जाता था, किंतु वास्तव में सारा कार्य शुक्लजी ही देखते थे। 1928 में बख्शीजी को खैरागढ़ में अध्यापक के रूप में नौकरी मिल गई और वे चले गए। बख्शीजी की अस्थिर स्थिति के बावजूद 'सरस्वती' उत्तम ढंग से संपादित होती रही, क्योंकि शुक्लजी जैसा समर्थ एवं समर्पित पत्रकार वहां मौजूद था। इस दौरान इंडियन प्रेस के मालिक बाबू चिंतामणि घोष की मृत्यु पर उनकी स्मृति में 'सरस्वती' का श्रद्धांक भी निकला, जो आज भी संस्मरण साहित्य के अमर दस्तावेज के रूप में संग्रहणीय है। जनवरी 1929 में शुक्लजी को सरस्वती का पूर्ण संपादक बना दिया गया।

द्विवेदीजी के सुयोग्य उत्तराधिकारी

यों तो 'सरस्वती' को अपने जीवन का महत्वपूर्ण अंग मानते हुए शुक्लजी इसे सजाने-संवारने तथा अधिकाधिक उपयोगी व स्तरीय बनाने की सदैव चेष्टा करते थे, किंतु अब स्वतंत्र रूप से संपादन दायित्व आ जाने पर वे दुगने उत्साह से उसे जनप्रिय बनाने के काम में जुट गए। सरस्वती की नीतियां तो पूर्ववत रहीं, किंतु युगानुकूल प्रवृत्तियों के अनुरूप नए ढंग की सामग्री के प्रकाशन में वृद्धि हो गई। साहित्य के साथ राजनीतिक, सामाजिक तथा सामान्य महत्व के अन्य विषयों पर भी रचनाएं छपने लगीं। रूपरेखा तथा पाठ्य सामग्री दोनों दृष्टियों से सरस्वती' दिनोंदिन उन्नति करने लगी।

शुक्लजी ने अनेक नए स्तंभों का सूत्रपात किया। देश के कई प्रतिष्ठित नेताओं तथा विद्वानों के लेख भी इसमें प्रकाशित होने लगे। कई बार शुक्लजी के इन प्रयासों का विरोध और आलोचना भी होती किंतु शुक्लजी निर्द्वंद्व भाव से अपने कार्य में लगे रहते। 'सरस्वती' का स्तर तथा प्रतिष्ठा बनाए रखने के साथ-साथ वे उसमें नयापन लाने का प्रयास करते रहे। द्विवेदीजी की परंपरा का निर्वाह करते हुए उन्होंने काव्य, गीत, कहानी, उपन्यास, निबंध, समालोचना, जीवन चरित्र, नाटक आदि सभी साहित्यिक विधाओं की रचनाओं को न केवल प्रकाशित किया बल्कि साहित्यकारों को गरिमा तथा मान्यता प्रदान की। उदीयमान साहित्यकारों के मार्गदर्शन व प्रोत्साहन की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया, किंतु उन्होंने कभी भी एकरसता नहीं आने दी और विविधता बनाए रखी। उनके कार्यकाल में जयशंकर प्रसाद, अयोध्या सिंह उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, बाल कृष्ण राव, सुमित्रा नंदन पंत, मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी वर्मा, निराला, माखन लाल चतुर्वेदी, दिनकर, राम विलास शर्मा, सोहनलाल द्विवेदी, प्रभाकर माचवे जैसे सभी प्रमुख हिंदी कवियों की काव्य रचनाएं तथा प्रेम चंद, जैनेन्द्र, इलाचंद जोशी, निराला, चतुरसेन शास्त्री, अश्क, भगवती चरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, सेठ गोविंद दास, धर्मवीर, विष्णु प्रभाकर जैसे दिग्गज कथाकारों की कहानियां प्रकाशित हुईं। साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त समाज, विज्ञान, भूगोल, इतिहास, पुरातत्व तथा यात्रा विषयक, सामग्री भी पर्याप्त मात्रा में प्रकाशित हुई। इन विषयों के लेखकों में द्वारका प्रसाद मिश्र, अमर नाथ झा, जवाहर लाल नेहरू, राम मनोहर लोहिया, कमलापति त्रिपाठी, अवनीन्द्र विद्यालंकार, संतराम, लाला हर दयाल आदि प्रमुख हैं। शुक्लजी ने स्वयं भी साहित्य के साथ-साथ विभिन्न विषयों पर रचनाएं लिखीं, जो 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं। सरस्वती की प्रतिष्ठा उन्हें इतनी प्रिय थी कि पत्रिका को संवारने की लगन में उन्होंने अपने स्वास्थ्य की कभी चिंता नहीं की।

1945 में जनवरी अंक के प्रूफ पढ़ चुकने के बाद शुक्लजी की दृष्टि ने पूरी तरह जवाब दे दिया। इस कारण शुक्लजी ने अवकाश ले लिया। वे दो वर्ष तक सवेतन अवकाश पर रहे। किंतु सारी सामग्री शुक्लजी के घर भेज दी जाती, जिसे उनके पुत्र रमादत्त शुक्ल उन्हें पढ़ कर सुनाते और शुक्लजी उसे सुन कर संपादकीय टिप्पणियां लिखाते। जब शुक्लजी एकदम अस्वस्थ हो गए तो 1947 में इंडियन प्रेस ने उनके ही अनुरोध पर उन्हें संपादकीय कार्य से मुक्त कर दिया। इस प्रकार पं. देवीदत्त शुक्ल ने लगभग दो दशक तक द्विवेदी के पद चिन्हों पर चलते हुए अत्यंत योग्यता के साथ 'सरस्वती' का संपादन किया और द्विवेदीजी द्वारा चलाई उदात्त परंपरा को आगे बढ़ाने में महान योग दिया। हिंदी पत्रकारिता का यह देदीप्यमान नक्षत्र 84 वर्ष की आयु में 20 मई, 1971 को अस्त हो गया।

साहित्य तथा हिंदी के अनन्य प्रेमी

यद्यपि शुक्लजी ने पत्रकार के रूप में अप्रतिम प्रतिष्ठा व ख्याति प्राप्त की किंतु मूलत: वे साहित्यकार तथा साहित्यप्रेमी थे। हिंदी के प्रश्न पर वे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के विचारों को काटने से भी नहीं चूके। उन्होंने हिंदी साहित्य सम्मेलन के कामों की भी कई बार कड़ी आलोचना की। वे निर्भीक तथा निष्ठावान लेखक थे। उन्होंने स्वयं तो विविध विषयों पर लिखा ही सरस्वती के माध्यम से भी हिंदी की श्रीवृद्धि मे अपूर्व योग दिया। उन्होंने साहित्य, धर्म, अध्यात्म जैसे विषयों पर कई पुस्तकें लिखीं। उनकी कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं—संपादक के पच्चीस वर्ष, कुछ खरी खरी, गदर का इतिहास, स्वाधीनता के पुजारी, एक आत्म कथा, काल रात्रि, एकादशी, बाल कविता माला, बाल द्विवेदी, वाम मार्ग, दुर्गा सप्तशती, चक्र पूजा, साधक का संवाद, धर्म मार्ग पर आदि।

उनकी कुछ अप्रकाशित पुस्तकें भी हैं, जिनमें संपादक के पत्र खद्योत प्रकाश, दोहावली, अवध की झांकी आदि उल्लेखनीय हैं। उनके समग्र साहित्य को शुक्ल रचनावली के नाम से प्रकाशित करने की योजना है।

सादगी तथा निर्भीकता जैसे गुणों से युक्त पं. देवीदत्त शुक्ल ने जिस समर्पण भाव से हिंदी साहित्य और पत्रकारिता की सेवा की है वह अपने आप में अद्वितीय है। पत्रकारिता के इतिहास में उनका नाम सदैव गर्व और श्रद्धा के साथ लिया जाता रहेगा। □

सी-7/134 ए, केशवपुरम (लारेंस रोड),
दिल्ली-110035

राष्ट्र-भाषा के संरक्षक पंडित देवीदत्त शुक्ल

धर्मेन्द्र त्यागी

'भाषा' के नहीं होने पर राष्ट्र गूंगा और बहरा होता है। इस यथार्थ को अंग्रेजी शासन के दौरान अधिक गंभीरता से समझा गया। तब के हमारे उच्च बौद्धिकों ने इस पर चिंतन-मनन किया और पाया कि हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जो सारे देश में सबसे अधिक बोली और समझी जाती है। भाषा मिल गई। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने इसकी स्थापना की, लेकिन भाषा का एक स्वीकृत संविधान तैयार नहीं हो पाया। समय बीतता गया। प्रयाग (इलाहाबाद) में बंगला-भाषी बाबू चिंतामणि घोष ने अपने इंडियन प्रेस से हिन्दी में एक मासिक पत्रिका प्रकाशन सन् 1900 में शुरू किया। पत्रिका का नाम था 'सरस्वती'। लगभग तीन वर्ष तक इस पत्रिका का संपादन एक संपादन-मंडल द्वारा किया जाता रहा। साथ ही घोष बाबू पत्रिका के लिए उपयुक्त संपादक की खोज में भी जुटे रहे।

अंततः श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी उनकी खोज का सार्थक परिणाम बने। सन् 1903 से द्विवेदी जी 'सरस्वती' के संपादक हो गए। उसके संपादन-कर्म की पूरी स्वतंत्रता भी उन्हें प्राप्त हुई। द्विवेदी जी अपने कर्म में जुट गए। भाषा के रूप में हिन्दी तो सामने थी किंतु व्यवस्था और अनुशासन से वह खारिज थी। द्विवेदी जी ने इस महत्वपूर्ण कार्य को पूरा किया। नियम-कानून बनाए। अर्थात् भाषा को वर्तनी-व्याकरण से सज्जित किया। हिन्दी वेगवान नदी के रूप में अपने पथ पर बह चली। 'पतझर' समाप्त हो गया, 'बसंत' से सर्वत्र महक उठा। द्विवेदी जी के पुण्य-प्रताप का प्रतिफल था कि हिन्दी को राष्ट्र-भाषा की स्वीकृति मिल गई।

सन् 1903 से 1920 तक द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का संपादन किया। इस अवधि में हिन्दी के अनेक सर्वमान्य भाषा-योद्धा भी तैयार किए। उन्हीं में थे पंडित देवीदत्त शुक्ल।

शुक्ल जी की प्रतिभा व क्षमता असाधारण थी। 13 अप्रैल 1887 को जन्में पंडित देवीदत्त शुक्ल जब बनारस में विद्या-अध्ययन हेतु गए तो सन् 1904 में पहली बार उन्होंने अखबार के दर्शन किए। अखबार का नाम था 'भारत मित्र'। इसमें छपे ट्रेन-डकैती के एक अधूरे समाचार ने लिखने को उकसाया। उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ना शुरू कर दिया। यहीं उन्होंने 'सरस्वती' को पढ़ा और जाना कि यह पत्रिका और इसके संपादक द्विवेदी जी कितने उच्च-कोटि के हैं।

सन् 1904 में शुक्ल जी ने 'सरस्वती' में एक लेख भेजा। वह छप गया। कुछ समय बाद एक लेख फिर भेजा। वह भी छप गया। यह साधारण बात नहीं थी। क्योंकि 'सरस्वती' में छपने को बड़े-बड़े लेखक-कवि तरसते थे। इसमें किसी रचनाकार की कोई रचना छपने का अर्थ होता था कि वह सचमुच में रचनाकार है और उसकी रचनाधर्मिता किसी भी संदेह से परे है। ऐसी उच्चकोटि की पत्रिका न उस समय में कोई दूसरी थी, न अब तक कोई हो सकी है।

पंडित देवीदत्त शुक्ल

शुक्ल जी की द्विवेदी जी से पारिवारिक निकटता भी बाद में निकल आई। इसका लाभ शुक्ल जी ने उठाया। 'सरस्वती' के प्रतिष्ठित लेखक वह बन चुके थे। किंतु द्विवेदी जी की भांति शुक्ल जी की पढ़ाई भी पूरी नहीं हो सकी। उन्हें नौकरी खोजनी पड़ी। मन के मुताबिक नौकरी सहज ही मिल भी गई। द्विवेदी जी ने ही समस्या का समाधान किया। इंडियन प्रेस से ही बच्चों की मासिक पत्रिका 'बालसखा' निकलती थी। सन् 1919 में पंडित देवीदत्त शुक्ल इसके संपादक बना दिए गए। इस प्रकार वे प्रेस की तकनीकी जानकारी में भी पारंगत हो गए। घोष बाबू उनसे बहुत प्रसन्न थे। पंडित जी पूरी मेहनत, निष्ठा और लग्न से अपना काम करते थे। किसी भी काम को वे छोटा नहीं समझते थे।

सन् 1920 में द्विवेदी जी ने अस्वस्थता के कारण 'सरस्वती' से अवकाश ले लिया। शुक्ल जी 'सरस्वती' के काम में भी हाथ बटाने लगे थे। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी को 'सरस्वती' का संपादक नियुक्त किया गया और पंडित देवीदत्त शुक्ल को सहायक संपादक। अब शुक्ल जी के पास काम की कमी नहीं थी।

बख्शी जी कुशल संपादक थे लेकिन साहित्य और भाषा के मामले में शुक्ल जी को वे अपना गुरू मानते थे। विगत वर्ष उन्होंने अपने एक लेख में भी इस यथार्थ को स्वीकार किया है।

सन् 1921 में जनवरी का अंक 'विशेषांक' के रूप में निकाला गया। पत्र-पत्रिका-जगत में इससे पूर्व विशेषांक निकालने की किसी योजना का कोई प्रमाण नहीं मिलता। लेकिन बख्शी जी 'सरस्वती' में अपने को स्थिर नहीं कर पाए और सन् 1925 से वे पूरी तरह 'सरस्वती' से अलग हो गए।

घोष बाबू 'सरस्वती' का काम द्विवेदी जी की सलाह से ही करते थे। सलाह-मशविरे के उपरांत संपादक के लिए विज्ञापन दिया गया। करीब 125 व्यक्तियों ने आवेदन किया। कुछ ने तो अपने आवेदन में यहां तक लिखा कि उन्हें वेतन की भी आवश्यकता नहीं है। सभी आवेदन द्विवेदी जी ने देखे। पर बात बनी नहीं। उन्होंने घोष बाबू को लिखा कि ''क्यों न यह दायित्व पंडित देवीदत्त शुक्ल को सौंप दिया जाए?'' घोष बाबू तो चाहते ही यह थे। अतः शुक्ल जी 'सरस्वती' के 1925 में पूर्णरूपेण संपादक बन गए। अब शुक्ल जी के विरोधियों की संख्या भी बढ़ गई। किंतु उन्होंने कभी इसकी चिंता नहीं की।

देश में स्वाधीनता-संग्राम शक्तिशाली होता जा रहा था। अतः शुक्ल जी ने 'सरस्वती' में राजनैतिक लेखों का प्रकाशन भी शुरू कर दिया। इससे 'सरस्वती' की ख्याति और भी बढ़ने लगी। वस्तुतः समय की आवश्यकता को समझने की गजब की चेतना थी शुक्ल जी में। साथ ही भाषा और लिपि के संदर्भ में उनके विचार दो टूक थे। इस मामले में कोई भी समझौता उन्हें स्वीकार नहीं था।

संपादक हो जाने के बाद ठाकुर श्रीनाथ सिंह को उनका सहायक संपादक बनाया गया। ठाकुर साहब के पंडित जवाहरलाल नेहरू के परिवार में भी अच्छे संबंध थे। इस प्रकार क्रांतिकारियों से उनका निकट का परिचय रहता था और 'सरस्वती' को उसके स्तर के राजनैतिक लेख भी आसानी से मिल जाते थे। लेकिन ठाकुर श्रीनाथ जी लम्बी अवधि तक 'सरस्वती' में नहीं रह सके।

ठाकुर साहब के बाद पंडित उमेशचंद्र मिश्र को 'सरस्वती' में सहायक संपादक बनाया गया। मिश्र जी की योग्यता से शुक्ल जी को काफी मदद मिली। शुक्ल जी 'सरस्वती' के अलावा भी पत्र-पत्रिकाओं में लिखते रहते थे और उन लेखों का कोई पारिश्रमिक भी नहीं लेते थे। हिंदी-हित में भी वह यह सब करते थे। 'सरस्वती' से मिलने वाले मासिक वेतन में अपना घर-खर्च चलाते थे। राष्ट्र-भाषा उनका जीवन बन चुकी थी। उन्होंने इतना अधिक काम किया कि नेत्र-ज्योति उनका साथ छोड़ने लगी। अंततः सन् 1946 में उनकी नेत्र-ज्योति पूरी तरह समाप्त हो गई और उन्हें 'सरस्वती' से अवकाश लेना पड़ा। 'सरस्वती' उसके बाद भी वर्षों तक निकली। किन्तु बाद में 'सरस्वती' का वह स्वरूप रह नहीं पाया, जो द्विवेदी जी ने निर्मित किया और शुक्ल जी ने जिसका अत्यावश्यक संपोषण किया। कहना गलत न होगा कि द्विवेदी जी ने भाषा को वर्तनी और व्याकरण दी और उसका संरक्षण, संवर्द्धन, संपोषण शुक्ल जी ने किया। हिंदी-जगत में शुक्ल जी के व्यक्तित्व-कृतित्व का उनके समकालीनों में भी कोई जोड़ नहीं मिलता और हिंदी-जगत अपने इस तपस्वी से सर्वाधिक अपरिचित-सा है।

उन्होंने अनेक पुस्तकें भी लिखी हैं। सबसे महत्व की बात उनके व्यक्तित्व में यह रही कि उन्होंने सर्वदा रचना को ही प्रणाम किया। व्यक्ति या व्यक्तित्व के प्रभाव में आकर उन्होंने कभी कोई लेख स्वीकार नहीं किया। निराशावादी दृष्टि के वह मुखर विरोधी थे।

अपने संपादन-काल में उन्होंने लेखकों-कवियों की ऐसी पीढ़ी तैयार की, जिसे इतिहास भुला नहीं सकता। हां, उस तैयार पीढ़ी ने अवश्य ही शुक्ल जी को भुलाए रखा। उनके शताब्दी-वर्ष में उत्तर प्रदेश-हिंदी-संस्थान को भी उनकी याद नहीं आई, जिसकी नींव में पंडित देवीदत्त शुक्ल को, प्रयास करके, आज भी देखा जा सकता है। किंतु प्रयास करे कौन और क्यों करे? 20 मई, 1971 को देह-त्याग तक वे हिंदी के हित में कार्यरत रहे।

उनके सहायक संपादक रहे ठाकुर श्रीनाथ सिंह और पंडित उमेशचंद्र मिश्र, और प्रधान संपादक रहे श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी अभी जीवित हैं। इनकी आत्मा में शुक्ल जी के दर्शन किए जा सकते हैं। सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी और लेखक पंडित बालकृष्ण भट्ट के सुपुत्र सौ वर्षीय (जीवेम शरदः शतम्) पंडित जनार्दन भट्ट जी से गत 9 दिसंबर 1989 को साक्षात्कार का सुख जब मुझे संयोगवश प्राप्त हुआ तो मेरे हर्ष की सीमा नहीं थी। उन्होंने सन् 1910 में 'सरस्वती' में लिखना शुरू किया था और शुक्ल जी के समय तक लिखा। दिल्ली में भट्ट जी अपने सौम्य सुपुत्र श्री उमापति भट्ट (सेवानिवृत्त आई. ए. एस. अधिकारी) के साथ रहते थे। कितने साहित्यिक और हिंदी-सेवी उन्हें जानते-समझते हैं? वयोवृद्ध भट्ट जी की स्मृति में द्विवेदी जी और शुक्ल जी आज भी अतीत की तरह जीवित और सम्मानित हैं।

पत्रकारिता आज पूरी तरह व्यवसायिक हो चुकी है। मिशन की भावना अब नहीं रह गई। संवेदना की बंजर हो रही जमीन का भविष्य क्या होगा? कहना कठिन है। लेकिन एक बात साफ है कि हम अपने अतीत से कट कर, उज्ज्वल भविष्य का निर्माण नहीं कर सकते। साहित्य पढ़ा जाता है और पत्रकारिता पढ़ने-योग्य होती है, अपने अतीत से आत्मसात होकर ही हम यह दावा सहज रूप में कर सकते हैं।

जहां तक हिंदी के संकट की बात है, तो राष्ट्रभाषा बनने के बाद भी हिंदी वालों के कारण ही हिंदी को जब-तब अपमानित होना पड़ा। आज हम स्वाधीन हैं और हिंदी राष्ट्रभाषा के स्थान पर 'राजभाषा' है और आज भी उस पर जो संकट है, वह हिंदी वालों की ही देन है। यह मेरा स्पष्ट मत है। हिंदी को सुख-सुविधाएं और उत्तम साधन बटोरने का एक शस्त्र मात्र ही तो समझा है और समझ रहे हैं अधिकांश हिंदी वाले। ऐसे में, हिंदी यदि संकट में है अथवा उसका संकट और अधिक गहरा होगा, तो इसका मुख्य दोष किसे देंगे हम? अतः यह हमारा प्रथम दायित्व है कि हम मुखौटेबाजों को अलग-थलग कर दें। तब हम पाएंगे कि राष्ट्र-भाषा हिंदी का विरोध नगण्य है। द्विवेदी जी, शुक्ल जी और ऐसे अन्य व्यक्तित्वों का अनुसरण करके ही हम अभीष्ट की सिद्धि कर सकते हैं। □

टाइप-दो, बी-26/368,
डी. एम. एस. कालोनी, हरिनगर घंटाघर,
नई दिल्ली-110064

कहानी

अपना पराया

~ मदन मोहन राजेन्द्र

तोशी और डिम्पी को एक-दूसरे को देखे हुए लगभग एक साल हो गया है। परन्तु छोटा-सा बच्चा होते हुए भी डिम्पी अभी अपनी आन्टी तोशी को नहीं भुला पाया है। कई सौ मील की दूरी ने उन्हें नजरो से तो जुदा कर दिया है, मगर मन की दृष्टि से वे एक-दूसरे को अवश्य देख लेते हैं। डिम्पी के बारे में तो मैं जानता हूं कि उसने अपनी मां की गोद में सोते हुए भी सहसा जागकर अपनी आन्टी को पुकारा है और उसकी छोटी-सी आन्टी की व्याकुलता उन पोस्टकार्डों से स्पष्ट है जो हर सप्ताह आते हैं और उस डिम्पी के नाम होते हैं जो उन्हें पढ़ भी नहीं सकता।

तोशी अब चौदह वर्ष की होगी। पहली बार मैंने उसे कोई नौ साल हुए अपने विवाह के अवसर पर अपनी ससुराल में देखा था। वह मुहल्ले की लड़की थी और शादी की भीड़ में शामिल पचासों बच्चों में वह भी एक थी। मुझे केवल इतना याद है कि एक रात में एक भोली-भाली बच्ची मेरे बहुत ही पास आकर खड़ी हो गई थी और मेरे कपड़ों को तथा मुझे आश्चर्यजनक मुद्रा में देख रही थी। मुझे वह इतनी अच्छी लगी थी कि मैंने उसे पकड़ना चाहा था, किन्तु वह भाग गई थी। इसके बाद शादी के उन दो दिनों में वह बीसों बार आई होगी। एकाध बार मैंने उससे बात भी की और उसका नाम भी पूछा। उस समय वह कोई पांच वर्ष की लज्जाशील परन्तु समझदार बच्ची थी।

शादी के बाद मैं अपनी ससुराल जाता रहा। लेकिन घर में आने वाले बच्चों में तोशी नजर न आई और न मैंने उसके बारे में किसी से पूछा। परन्तु एक ऐसे ही अवसर पर जब घर में छोटे-छोटे बच्चे नाच-गा रहे थे, मुझे एकाएक तोशी का ध्यान आया। मैंने तुरन्त पूछा कि तोशी कहां है? पता लगा कि मेरे विवाह के दो साल बाद ही उन लोगों की बदली किसी और जगह की हो गई थी।

इसके भी कई साल पश्चात की बात है, मैं दफ्तर से घर आया तो अपनी पत्नी को एक दस-ग्यारह साल की लड़की से बातचीत करते हुए पाया। मेरी पत्नी मुझसे बोलीं, "आप इसे पहचानते हैं?"

"नहीं तो", मैं सोचते हुए बोला।

"यह तोशी है—वही छोटी-सी लड़की जो हमारी शादी में आपके पास बहुत आती थी और जिसके बारे में आपने एक बार पूछा भी था।" पत्नी ने कहा।

मैंने नजर उठाकर देखा, बचपन की भोली-भाली तोशी और अब की तोशी में कोई अन्तर नहीं था। बस, जैसे छोटी-सी तस्वीर को किसी ने बड़ा बना दिया था। वैसी ही सुन्दर, दुबली-पतली, शर्मीली और भोली-भाली। मेरी पत्नी बोलीं, "इन लोगों की बदली अब यहीं की हो गई है। हमारे पीछे वाली गली में जो कोने का मकान खाली था, उसी में परसों से ये लोग आए हैं। इसके पिता जी भी अभी आए थे। मैंने तोशी को रोक लिया कि ठहरकर चली जाएगी। देखा आपने। अब तो यह बड़ी हो गई है, छठी में पढ़ती है। कैसी गुड़िया-सी थी कुछ साल पहले यह। मुझे बाजार में अगर इधर-उधर मिल जाती तो शायद पहचान भी न पाती।"

यह डिम्पी के पैदा होने के पांच-छह महीने पहले की बात है। तोशी मेरी पत्नी से अत्यधिक घुल-मिल गई। वह अपना अधिकांश समय हमारे यहां ही व्यतीत करने लगी थी। अपनी किताबें लेकर वह मेरी पत्नी के पास ही चली जाती और वहीं बैठी पढ़ती रहती। हमारा और तोशी के परिवार का आपस में बड़ा मेल हो गया। इतना ही नहीं, बल्कि डिम्पी के पैदा होने का समय जब निकट आया तो तोशी की मां ने पूरी-पूरी सहायता की।

डिम्पी हमारी शादी के कई साल बाद हुआ था, इसलिए हमारी खुशी की कोई सीमा नहीं थी। इस खुशी में तोशी और उसकी मां भी शामिल थीं। तोशी भी अपने घर में अकेली थी और डिम्पी के होने पर उसने एक भाई के होने की-सी खुशी अनुभव की थी। मुझे आज भी वे दिन याद हैं जब उसने अपनी पढ़ाई का हर्ज करके दिन-रात हमारे घर में अधिकाधिक काम किया था। छोटी-सी लड़की होते हुए भी उसने बड़ी स्त्रियों की भांति लगभग सारा घर ही संभाल लिया था। वह दिन-रात डिम्पी को लिए बैठी रहती। उस गुड़िया से बच्चे के साथ, जिसकी आंखें भी शायद उसे पूरा नहीं देख सकती थीं, वह घंटों कुछ न कुछ बोलती रहती थी। फिर एक दिन तोशी ने डिम्पी को उसका यह नाम दे दिया। वह कहने

लगी कि जब यह हंसता है तो इसके नन्हें से गाल में एक गड्ढा पड़ जाता है, इसलिए उसे इसका नाम डिम्पी पसन्द है। तोशी की पसन्द हम सबकी हो गई और संदीप का दूसरा नाम डिम्पी हो गया।

समय हंसी और खुशी की भरपूर छलांगें मारता हुआ गुजर रहा था। तोशी की गोद में उछलता-कूदता और हंसता-चीखता डिम्पी भी बढ़ता रहा। मैं यह देखकर हैरान रह गया कि तोशी और डिम्पी की शक्ल एक-दूसरे से बहुत मिलती थी। भाई-बहन से लगते थे। यह विचार हमारा ही नहीं था, बल्कि तोशी जब उसे गोद में लेकर बाहर खिलाती होती, तो बाहर वाले भी यही समझते कि वह उसका भाई है।

डिम्पी जब डेढ़ साल का हो गया तो कुछ बोलने लगा। वह तोशी को कभी तोच और कभी आन्टी कहने लगा। ये दोनों शब्द उसने घर में ही सुने थे। तोशी मेरी पत्नी को आन्टी कहती थी और हम दोनों उसे तोशी कहते थे। इस तरह छोटी-सी तोशी डिम्पी की आन्टी बन गई।

दो साल का डिम्पी बहुत ही नटखट तथा शरारती था। उसका और तोशी का प्यार दिन पर दिन नए चांद की तरह बढ़ता गया। अब वह तोशी के घर जाने के लिए किसी की गोद पर निर्भर नहीं था और तोशी के स्कूल से आने के पहले ही वह अपनी टांगों से गिरता-पड़ता उसके घर पहुंच जाता। तोशी को स्कूल के लिए कुछ पैसे घर से मिलते थे और वह बेचारी इसमें से हर रोज डिम्पी के लिए एक टाफी या गोली लेती आती। उसे लेते ही डिम्पी के गालों के गुलाब खिल जाते और वह अपनी नन्हीं-सी हथेली पर उसे ऐसे देखता जैसे किसी नन्हीं-मुन्नी परी ने उसे जादू की कोई वस्तु दी हो।

तोशी के प्यार ने उसे डिम्पी की बहन और मां दोनों बना दिया था। दिन को डिम्पी की मां तोशी थी और रात को उसकी अपनी मां। वह दिन भर तोशी के घर की ओर चक्कर लगाता रहता था और उसके घर पहुंचकर जब उसे यह पता लगता कि तोशी स्कूल गई है, तो मुंह लटकाए हुए वापस आ जाता। यद्यपि तोशी हर रोज स्कूल जाती थी, मगर डिम्पी के नन्हें से मस्तिष्क में यह बात नहीं आती थी और वह तैयार होकर सबसे पहले सीधा तोशी के घर पहुंच जाता। स्कूल जाने के पहले एक सुबह और दोपहर के बाद कई चक्कर डिम्पी का क्रम हीं बन गए थ। वह मां के रोकने पर भी नहीं रुकता था।

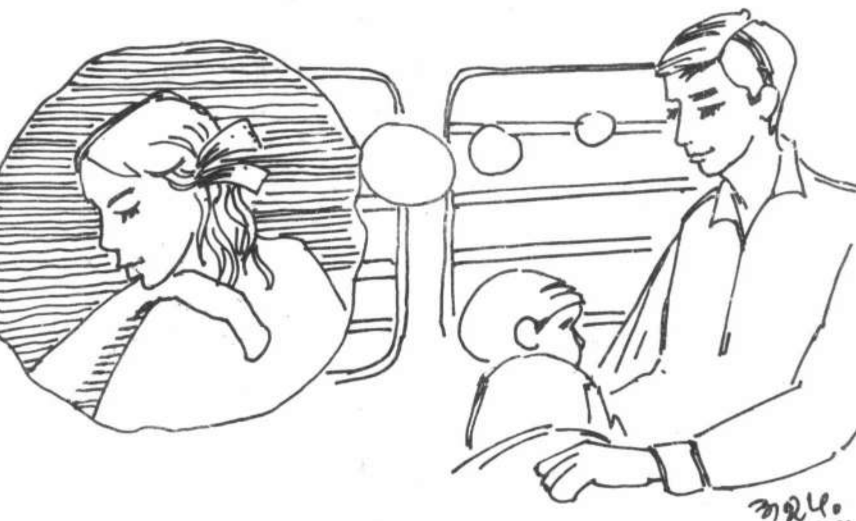

डिम्पी तोशी के साथ अत्यधिक हिल मिल गया था। वह बेचारी स्कूल जाने के पहले भी एक बार आती और स्कूल से वापस आकर लगभग तुरन्त ही फिर आ जाती। डिम्पी अपनी आन्टी की राह देखता रहता और सुबह शाम जब तोशी जाने लगती, तो वह उसके साथ जाने के लिए मचलता और जमीन पर लोट-पोट होकर रोने लगता। कई बार ऐसा हुआ कि तोशी उसका रोना सहन न कर सकी और वह उसे साथ ही ले गई।

एक दिन इसी प्रकार तोशी के साथ डिम्पी शाम को चला गया। मगर दो घंटे बीत गए और उसे कोई देने नहीं आया। उसके सोने का समय हो गया था, इसलिए मैं उसे लेने चला गया। मैं वहां गया तो न तोशी नजर आई और न डिम्पी ही। तोशी की मां ने पलंग की ओर संकेत करके कहा, "वह लेटी है।" मैंने लिहाफ उठाकर देखा तो तोशी सोई हुई पड़ी थी और उसकी गोद में मुड़ा हुआ डिम्पी भी आराम से सो रहा था। तोशी अपना एक हाथ उस पर रखे हुए और उसकी गोद में मां की सी गरमी पाए हुए वह आराम से सो रहा था। मैंने धीरे से तोशी का हाथ हटाया और डिम्पी को गोद में उठा लिया।

धीरे-धीरे मेरी पत्नी को यह बुरा लगने लगा कि तोशी के बिना डिम्पी को चैन नहीं आता। कई बार उन्होंने डिम्पी को तोशी के घर या उसके साथ जाने से रोका भी। इसमें कोई कुढ़न की भावना नहीं थी। ऐसी स्थिति में हर मां ऐसा ही करती। इसके अलावा तोशी को घर का काम और अपनी पढ़ाई भी करनी होती थी। अतः मुझे भी यह बुरा लगता था कि डिम्पी तोशी के साथ इस तरह चिपटा रहकर उसका समय नष्ट करे। परन्तु तोशी में न जाने प्यार और दुलार का कौन-सा आकर्षण था या डिम्पी और उसका किस जन्म का साथ था जो दोनों का एक-दूसरे के साथ लगाव बढ़ता ही रहा।

एक रोज बड़ी कड़ी सर्दी थी। मैं, मेरी पत्नी तथा तोशी डिम्पी को लिए कोयलों की अंगीठी के पास बैठे हुए थे। संध्या के सात

बजे होंगे। मेरी पत्नी डिम्पी को गोद में लिटाकर सुलाने का प्रयास कर रही थीं परन्तु वह सो नहीं रहा था। जब तोशी जाने के लिए उठी तो वह मां की गोद से उतरकर तोशी की गोद में चढ़ गया। मेरी पत्नी को बड़ा बुरा लगा, क्योंकि तोशी को पहले से ही देर हो गई थी। अतः उन्होंने डिम्पी को आगे बढ़कर खींच लिया और उस पर नाराज होने लगीं। लेकिन डिम्पी मचलता रहा। तोशी बोली, ''लाओ, ले लूं। सुलाकर चली जाऊंगी।''

डिम्पी तोशी की गोद में लेट गया, परन्तु सोने की बजाय वह उससे खेलने लगा। आठ बजे तोशी चली गई, किन्तु वह उस समय तक सोया नहीं था, और जब तोशी जाने लगी तो वह फिर उसके साथ जाने की हठ करने लगा, लेकिन डिम्पी की मां ने तब उसे जबरदस्ती रोक लिया। तोशी के जाते ही क्रोध में मेरी पत्नी ने उसे दो-तीन थप्पड़ मार दिए और उसे लेकर पलंग पर लेटकर जबरदस्ती सुलाने लगीं।

मार खाकर सिसकियां भरता हुआ डिम्पी सो गया और उसके साथ ही उसकी मां भी। थोड़ी देर में मुझे भी नींद आने लगी और मैं बत्ती बुझाकर सो गया। कोई नौ बजे होंगे कि अचानक मेरी आंख खुल गई। डिम्पी नींद में बड़बड़ा रहा था कि तोच आन्टी के पास सोऊंगा। मैंने उसे उठाकर अपने पास सुला लिया। मेरी फिर आंख लग गई, मगर थोड़ी देर में ही खुल गई। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि डिम्पी मेरे बिस्तर पर नहीं है। मैंने उठ कर बत्ती जलाई तो देखा कि डिम्पी दरवाजे से लगा खड़ा है। मैंने उसे गोद में ले लिया तो वह फफकते हुआ बोला—''मैं आन्टी के पास सोऊंगा।'' मेरा हृदय उसके अल्हड़पन को देखकर भर आया। मैंने घड़ी की ओर देखा तो दस बज चुके थे। मैंने कम्बल लिया, डिम्पी को और अपने आपको उसमें लपेटा और धीरे से दरवाजा खोलकर बाहर चला गया।

तोशी के कमरे में अभी तक रोशनी थी। मैंने खिड़की के शीशों में से झांककर देखा, तोशी अभी पढ़ रही थी। मैंने शीशे पर खटखट की और तोशी ने मुझे देखते ही लपककर दरवाजा खोल दिया। जैसे वह मेरा मतलब भली-भांति जानती थी या जो कुछ डिम्पी पर बीती थी, वह उसे देखती रही थी, उसने तुरन्त कम्बल में से डिम्पी को ले लिया ओर उसे अपने सीने से चिपटाती हुई चारपाई पर लेट गई।

यह पहला दिन था, जब डिम्पी रात-भर घर से बाहर सोया। मैं तोशी के घर से लौटा तो पत्नी को दरवाजे पर खड़ा हुआ पाया। वे परेशान थीं और मुझे खाली हाथ देखकर घबराईं। मैंने सब कुछ बता दिया, तो वे बोलीं, ''यह आपने ठीक नहीं किया। डिम्पी को आपने ही खराब किया है। डिम्पी का तोशी के साथ इतना लगांव मैं पसन्द नहीं करती। वह आखिर पराई लड़की है।''

मैंने कहा, ''तुम व्यर्थ ही ऐसी बातें सोचती हो। इसमें अपने पराए की क्या बात है? यह तो दो बच्चों का प्यार है और कोई ऐसा विचित्र भी नहीं। समय के दो-चार थपेड़े शायद इस प्यार के बुलबुले को फोड़ देंगे। डिम्पी दो एक साल में स्कूल जाने लगेगा और तोशी कौन-सी सदा यहां रहेगी?''

लेकिन दो एक साल से बहुत पहले ही प्यार का यह नन्हा-सा बुलबुला फूट गया और दो नन्हीं-नन्हीं-सी धाराएं अलग हो गईं। हमारे दफ्तर की एक शाखा शिलांग में खुल गई और मुझे वहां जाने का आदेश हुआ। मैंने बहुत प्रयास किया कि वहां न जाऊं, मगर लाख कोशिश करने के बावजूद असफल रहा। तोशी ने जब यह सुना कि हम इतनी दूर असम जा रहे हैं, तो वह अवाक-सी रह गई। उसका भोला भाला गुलाबी मुस्कराता हुआ चेहरा एकदम फीका हो गया और उसकी आंखों में तैरते हुए काले धब्बे ठहर से गए। वह एक दो रोज हमारे यहां आई भी नहीं। डिम्पी यह जानकर कि अब हम जा रहे हैं, बड़ा खुश हुआ और पूछता रहा, ''हमारे साथ तोच आन्टी भी जाएंगी?'' जो भी उससे पूछता कि कौन-कौन जाएगा तो वह हम सबके साथ तोशी का भी नाम गिना देता। तोशी जब यह सुनती तो उसका कलेजा मुंह को आ जाता। वह शायद इस बात को सहन न कर सकती थी और एकदम उस जगह से उठकर भाग जाती। शायद वह कहीं जाकर अकेले में रोती या अपने आंसुओं की उमड़ी हुई नदी को अपने आप में ही सोख लेती।

फिर वह दिन भी आ गया जब दो निर्दोष दिलों के आइनें टूटकर चकनाचूर हो गए। हमारा सामान लद रहा था और हम जाने वाले थे। तोशी अपने घर के किसी कोने में बैठी हुई आंसुओं की गंगा जमुना बहा रही थी। डिम्पी अपने नए-नए कपड़े पहनकर तोच आन्टी को बुलाने चला गया था, लेकिन आने की बजाय तोशी ने उसे अपने सीने से भींच लिया था। तोशी को रोता देखकर डिम्पी भी रोने लगा। हम दोनों तोशी के घर गए तो देखा कि डिम्पी रोता हुआ तोशी की चुनरी खींचकर उसे चलने को कह रहा था। हमने रोते-चिल्लाते डिम्पी को जबरदस्ती टैक्सी में बिठाया। वह लगातार ''आन्टी, आन्टी'' चिल्ला रहा था, मगर आन्टी की आंखों में आंसुओं के इतने बड़े बादल झूम आए थे कि वह अपने खिलौने डिम्पी को देख भी नहीं सकती थी।

जब तक हम स्टेशन पर नहीं पहुंचे, डिम्पी सिसक-सिसक कर रोता ही रहा और अपनी तोशी आन्टी को पुकारता रहा। रेल में बैठकर मानों उसके नन्हें से दिल को भी तोशी की विवशता का पता लग गया था। वह मेरे घुटने पर अपना सिर रखकर सो गया। उसके सेब जैसे कपोल सूखकर मुरझा गए थे। उसकी उदास सुर्खी को आंसुओं की नन्हीं, मैली-मैली-सी लकीरें काट रही थीं। मैंने उसके गाल पर हाथ रख कर उसे सीने से लगा लिया। मगर अचानक मेरा दिल भी तड़प उठा क्योंकि डिम्पी के दुःख को तो थोड़ी देर के लिए नींद ने डस लिया था, परन्तु रेल के डिब्बे की खिड़की की इन सख्त और ठंडी सलाखों के परे, इस ठण्डी और सख्त दुनिया में, एक पराई लड़की किसी कोने में बैठी अभी तक अश्रु-धाराएं बहा रही होगी। □

68, चित्र विहार, दिल्ली-110092

मैं इंडियन प्रेस में नौकरी कर लूंगा

सुरंजन

पंडित देवीदत्त शुक्ल जी ने अपने जीवन काल में—यानी 1956 से पूर्व एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी थी 'संपादक के पचीस वर्ष' जो 1956 में प्रकाशित होकर प्रबुद्ध पाठकों तक पहुंची थी। इस पुस्तक की दुर्लभ प्रति बहुत कम लोगों के पास होगी। इस पुस्तक में उन्होंने अपने संपादकीय यात्रा का आत्म-संधान, आत्म-परीक्षण और आत्म-निरीक्षण के परत दर परत को उघेड़ा है। इस दस्तावेज में उनके जीवन के आठ अध्याय हैं। इन आठों अध्यायों में गजब की रोचकता है। इसे पढ़ने पर हम उनके जीवन के रू-ब-रू होते हैं। आज जो कुर्सियों पर आसीन संपादक हैं, वे कितने अनभिज्ञ हैं, संपादकीय कलाओं की बारीकियों से कितने अदूरदर्शी हैं ये लोग, जो अतीत के ज्ञान भंडार की ओर झांकते तक नहीं हैं। याद तक नहीं कर पाते। पंडित जी अपनी जीवन यात्रा में औरों के लिए फूल ही फूल खिलाते रहे और अपने लिए कांटे ही कांटे। हिन्दी पत्रकारिता और हिन्दी साहित्य में इनका योगदान इतना विपुल है कि हिन्दी की बिन्दी सदियों तक ऋणी रहेगी।

पंडित देवीदत्त शुक्ल किस तरह संपादक बने और किन विशेष परिस्थितियों में इनका आगमन हुआ यह तथ्य बड़ा ही प्रेरणास्पद और दिलचस्प है। 'संपादक के पचीस वर्ष' के विषय प्रवेश में उनका कहना है कि "पहले पहल मैंने सन् 1904 में अखबार के दर्शन किए थे। वह अखबार हिन्दी का तत्कालीन प्रसिद्ध साप्ताहिक 'भारत मित्र' था। कदाचित कार्तिकी का मेला था, जिसे देखने के लिए मैं अपने गांव के पंडित परमेश्वरदीन बाजपेयी के साथ गया था। मेले में डाकिये ने उन्हें एक पैकेट दिया, जिसे मैंने उनसे ले लिया। खोल कर देखा तो वह 'भारत मित्र' नाम का साप्ताहिक अखबार निकला। मैं उत्सुकता के साथ उसे पढ़ने लगा। उसमें 'भीषण डकैती' शीर्षक एक लेख छपा था। उसे मैं एक सांस में पढ़ गया। उसमें तांतिया भील के चलती गाड़ी से एक स्त्री को उठा ले जाने का हाल छपा था। लेख अधूरा था। बस, इसी दिन से मैं अखबारों की ओर आकृष्ट हो गया। उस समय मैं क्या जानता था कि भविष्य में मुझे भी अखबार-नवीसी का ही धंधा करना पड़ेगा। उन दिनों मैं मौरावां में कदाचित छठे दर्जे में पढ़ रहा था। वहां पहुंचते ही मैंने 'भारत मित्र' मंगाना शुरू कर दिया।

'भारत मित्र' में 'सरस्वती' के एक लेख के विरुद्ध 'भाषा की अनस्थिरता' नाम की एक लेखमाला छपी थी। इसमें 'सरस्वती' के संपादक पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी का बहुत मखौल उड़ाया गया था। इसी लेख से पहले पहल मैं 'सरस्वती' और द्विवेदी जी को जान सका। परन्तु मैं यह नहीं समझ सका था कि ये द्विवेदी जी मेरे पड़ोस के दौलतपुर के ही निवासी हैं और इन्हीं की कृपा प्राप्त कर मैं एक दिन उन्हीं की उसी 'सरस्वती' का संपादक बनूंगा। उस लेखमाला का पद्य मुझे आज भी याद है। यह पद्य द्विवेदी जी का मखौल उड़ाने के लिए उसमें उद्धृत किया गया था। पद्य था पंडित प्रताप नारायण मिश्र का लिखा हुआ, जो यह है:

छिन महं चटक छिनहिं महं मद्धिम जस बुलात खन होत दिया।
ऐसन कछु-कछु देखि परति हैं तुम्हरी अक्किल के लच्छन।

'भारत मित्र' में द्विवेदी जी के संबंध में इसी प्रकार यदा-कदा आलोचनात्मक लेख छपते रहते थे। इन लेखों के फलस्वरूप मेरी निगाह में द्विवेदी जी ऊंचे नहीं जान पड़े। उनकी साहित्यिक प्रतिभा का मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था, न उसकी जानकारी के लिए मैंने कोई प्रयत्न ही किया। मुझमें उतनी सूझ-बूझ भी नहीं थी। मौरावां में 'सरस्वती' भी नहीं आती थी, जिससे दूसरा पक्ष भी जान सकता। मैं 'भारत मित्र' की ही धारा में बहता रहा।

मौरावां में एक पंडित शंभुदत्त शुक्ल रहते थे। वे संस्कृत के पंडित थे। हम लोगों का उनसे परिचय हो गया था। वे भी अखबारों के बड़े प्रेमी थे परन्तु वे कुछ-कुछ आर्यसमाजी थे। उनके संपर्क से हम लोगों में भी आर्यसमाज के विचारों का थोड़ा बहुत बीजवपन हो चला था परन्तु 'ब्राह्मण-सर्वस्वा' आदि के पढ़ने से कम-से-कम मेरा झुकाव उधर नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त इन सब राजनैतिक एवं धार्मिक विचार-विमर्शों के होते हुए भी हम लोगों का मुख्य ध्येय पठन-पाठन ही था। अतएव ये सब बातें गौण रूप में ही थीं। हम लोग अवकाश में ही इन सब बातों की ओर ध्यान दिया करते थे। इनका उतना हम लोगों पर प्रभाव नहीं पड़ता था। यह जरूर हुआ कि हममें हिन्दी के प्रति विशेष अनुराग हो गया था।

हिन्दी का पढ़ना तो बहुत पहले से ही जारी था। लड़कपन में यदि पढ़ा नहीं था तो सबल सिंह का महाभारत, तुलसी की रामायण, ब्रजविलास, विश्राम सागर, काशीराज का भारत, जैमिनिपुराण आदि। ये ग्रंथ पढ़े नहीं थे, तो भी इनका अधिकांश सुन चुका था। गद्य में सिंहासन बत्तीसी, बैताल पचीसी आदि पुस्तकें भी पढ़ी थीं। भूषण, मतिराम, पद्माकर आदि की कविताएं तो रोज ही सुनता रहता था। बात यह थी कि मेरी चचेरी बहनें काफी अधिक पढ़ी-लिखी थीं। ये प्रायः प्रतिदिन उपर्युक्त पुस्तकों में से कोई-न-कोई पुस्तक पढ़ा करती थीं। लड़कपन में इनके पास बैठकर मैंने उक्त पुस्तकों का अधिकांश सुना था। इसके अतिरिक्त इनमें से एक बहन और मेरी चाची कविता भी लिखा करती थीं। मेरे बड़े भाई भी अच्छे कवि थे। इस सबका मुझ पर कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु हिन्दी के नए साहित्य का परिचय हुआ अखबारों के पढ़ने से ही। एक बार मैं छुट्टी होने पर घर आया था। वही पंडित परमेश्वरदीन बाजपेयी चंद्रकांता लाए थे। उसे देखकर मैं उसको पढ़ने लगा। एक ही दिन में वह पुस्तक मैंने पढ़ डाली। इसके पढ़ने से मुझे हिन्दी के उपन्यासों के

पढ़ने का चाव हुआ परन्तु यह चाव अधिक समय तक नहीं रह सका। काशी के इस काल के उपन्यास मुझे अच्छे नहीं लगे। हां, बाद को बंकिम बाबू के उपन्यासों के पढ़ने से मेरी श्रद्धा उपन्यासों पर अवश्य बढ़ गई।

मौरावां में ऐसा कोई नहीं मिला, जो हिंदी में लिखने की ओर मुझे प्रवृत्त करता। श्यामलाल नाम के एक सज्जन पिछले दिनों हमारे स्कूल में आए थे। वे छंद-प्रभाकर के द्वारा छद-रचना का अभ्यास करते थे, परन्तु हम लोगों से छिपाकर। यह तो जब पढ़ने के सिलसिले में काशी पहुंचा तब लिखने का हौसला हुआ। काशी हिंदी का उन दिनों प्रधान गढ़ था, जहां साधारण से साधारण पढ़े-लिखे लोग भी हिंदी में पुस्तकें लिख-लिख पैसा पैदा कर रहे थे। मेरे सहपाठी मित्रवर हरिदास माणिक काशी के ऐसे ही उदीयमान लेखकों में थे। उनकी दो-तीन किताबें उन दिनों धूम से बिक रही थीं। माणिक जी का मुझ पर प्रभाव पड़ा और मैं भी हिंदी लिखने का अभ्यास करने की बात सोचने लगा। पर पथदर्शक कोई न मिला, न मैंने उसकी खोज की। इसी बीच मैंने दो लेख लिखे और मेरे सौभाग्य से वे दोनों ज्यों के त्यों छप भी गए। एक था श्री एनी बेसेंट के विरुद्ध, जो हिंदी 'बंगवासी' में छपा था। दूसरा था पशुबलि की शास्त्रीयता जानने के संबंध में और यह छपा था 'भारत जीवन' में। यह 1908 की बात है।

इन लेखों के छप जाने से मुझे बड़ा प्रोत्साहन मिला और मैं अपने को लेखक समझने लगा। इन्हीं दिनों प्रोफेसर उनवाला ने एक दिन हिंदी की कविता-रचना की प्रणाली पर भाषण किया और वहीं दर्जे में बतला दिया कि पद्य-रचना में गण और मात्राएं कैसे बिठाई जाती हैं। उनकी इस शिक्षा के फलस्वरूप मुझे कवि बनने की सूझी और मैंने कई कविताएं लिखीं, जिनमें 'कृषक विनय' को पंडित देवी प्रसाद शुक्ल, कवि चक्रवर्ती ने बहुत पसंद किया और जहां-तहां शुद्ध कर देने की कृपा भी की। ऐसे ही समय मेरा पंडित हरिभाऊ उपाध्याय से परिचय हुआ था और उन्होंने अपने 'औदुम्बर' में मेरी दो रचनाएं छापने की कृपा की।

मेरा हिंदी का प्रेम बराबर बना था और कविता आदि प्रायः लिखा करता था। बरहज के स्कूल में कमिश्नर साहब आने वाले थे। उनके स्वागत के लिए मुझे एक कविता लिखनी पड़ी थी। इसी तरह महासमुंद के स्कूल में भी एक कविता लिखनी पड़ी थी। महासमुंद में मैंने छः छप्पर लिखकर 'मर्यादा' में छपने को भेजे थे। सम्मिलित गृहजीवन के समर्थन में एक लेख भी भेजा था। 'मर्यादा' में संपादक महोदय ने इन दोनों को कृपापूर्वक छाप दिया था।

1913 में रायपुर जाते हुए प्रयाग में उतरा था। उस समय इलाहाबाद यूनिवर्सिटी का सीनेट हाल बन रहा था, उसे देखने के लिए मैं अपने मित्र श्री गिरिजाशंकर बाजपेयी के साथ कटरा गया था। वहीं सीनेट हाल के कम्पाउंड के पास एक फाटक पर इंडियन प्रेस लिखा हुआ देखकर हम दोनों ने इंडियन प्रेस देख लेने के विचार से उसके फाटक में प्रवेश किया। भीतर जाने पर मालूम हुआ कि आज प्रेस बंद है। उस समय मैं यह नहीं जानता था कि एक दिन इसी प्रेस में आकर मुझे अपने जीवन का एक बहुत बड़ा भाग बिताना पड़ेगा।''

आज की युवा पीढ़ी तो पूरी तरह पंडित देवीदत्त शुक्ल जी के साहित्यिक योगदान से अपरिचित पड़ी है। शुक्ल जी की तरह अनेक प्रदेशों में और भी कई ऐसी विभूतियां हैं, जिन्हें लोग बिसरा चुके हैं। आज जरूरत है युवा पीढ़ी की—जो इस दिशा में अपना सार्थक कदम उठा सके। □

4649/123-ए, न्यू माडर्न शाहदरा,
दिल्ली-110032

(पृष्ठ 16 का शेष)

शब्दशः पद्यानुवाद, अवध के गदर का इतिहास, सम्पादक के 25 वर्ष इत्यादि प्रमुख हैं।

'सरस्वती' के अपने संपादन-काल (1925-1946) में, उन्होंने विज्ञान की प्रगति, मातृ-मंडल और सामयिक साहित्य के नाम से विशेष स्तंभ शुरू किया, जो उनकी दूरदर्शिता का परिचायक था।

उनकी सम्पादकीय टिप्पणियां भी उनकी दूरदर्शिता को प्रमाणित करती हैं। सन् 1928 में ही उन्होंने मुस्लिम लीग द्वारा पाकिस्तान बना लिए जाने की संभावना व्यक्त की थी।

द्वितीय विश्व-युद्ध में अंग्रेजों की विजय की शुक्ल जी ने अनदेखी की, जबकि देश के अधिकांश पत्रों ने हर्ष व्यक्त किया।

राज्यों में स्थापित स्वायत्तशासी सरकारों को शुक्ल जी ने अपने सम्पादकीय के माध्यम से सलाह दी कि वे दरिद्रनारायण की सेवा करें। उन्होंने लिखा कि कांग्रेस शासन का महत्व इसी में है कि वह गरीबों की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करे। इसी में उसकी सार्थकता है। फाइलों का गोरख धंधा बंद होना चाहिए। समझ-बूझ कर जनता की समस्याओं का समाधान ढूंढना चाहिए ताकि लोगों को महसूस हो कि 'स्वराज्य' आ गया है।

राज्य सरकारों की आलोचना करते हुए पचास वर्ष पूर्व शुक्ल जी ने जो टिप्पणी की थी, वह आज भी समीचीन है। उन्होंने लिखा—''स्वराज्य की कौन कहे, सुराज्य भी नहीं हुआ। वही त्रास, वही प्रताड़ना, दंगों के गम, जमींदार-किसान भिड़न्त। अछूत और सवर्ण एक होने के बजाय अलग होने के लिए छटपटा रहे हैं। दरिद्रता में ह्रास का नाम नहीं। स्वराज्य का उपहास। नौकरशाही का बोलवाला, फाईलबाजी।''

देवीदत्त शुक्ल जी ने 50 वर्ष पूर्व कांग्रेस में लोकशाही के ह्रास पर चिंता व्यक्त करते हुए नेताशाही (अधिनायकवादी प्रवृत्तियां) समाप्त करने की आवश्यकता पर बल दिया था। वे कांग्रेस के अध्यक्ष पर से श्री सुभाष चन्द्र बोस के अपदस्थ किए जाने के तरीके से बिल्कुल असहमत थे।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि पं. देवीदत्त शुक्ल उच्च कोटि के सम्पादक और संत थे। उनके विचार आज की परिस्थितियों में सुसंगत हैं। देश के पत्रकारों और साहित्यकारों को उनका जीवनादर्श सदैव प्रेरित करता रहेगा। □

स्वतंत्र पत्रकार,
बी/2-बी-285, जनकपुरी,
नई दिल्ली-110058

पुष्पांजलि

– श्री निवास वत्स

मुख्य सड़क से हट कर मैं बगीची की तरफ कदम बढ़ाता हूं। दूर से ही पेड़ों के झुरमुट के बीच आदमी औरतों और बच्चों को भीड़ नजर आ रही है। मेरे कदम आगे बढ़ते जा रहे थे। गांव की बाहरी सड़क से गुजरते हुए एक नजर स्वतः उन पुराने खपरैल नुमा घरों पर जा टिकती है जिन्हें मैं हर साल देख लेता हूं।

गांव से निकलते ही पथरीले तालाब के उत्तरी सिरे पर यह बगीची है। तालाब के इतस्ततः कहीं कोई पत्थर नहीं पर लोग पुराने समय से ही इसे पथरीले तालाब के नाम से जानते थे। बगीची के बीच में एक कुटिया बनी है। काफी साफ-सुथरी, लिपी-पुती। आसपास क्यारियां बनाकर फल-पौधे लगा दिए हैं। कुटिया का लोहे की सलाखों वाला दरवाजा बंद है। अन्दर लकड़ी के तख्त पर सफेद चदर बिछी है जहां शास्त्री जी की पगड़ी, सफेद लंगोटी तथा कुछ अन्य प्रयोग की वस्तुएं रखी थीं। दूसरी तरफ एक दीपक जल रहा था।

कुछ कदम आगे चल कर मैं तरुपुत्र के पास पहुंच गया। तरुपुत्र, हां शास्त्री जी ने यही नाम दिया था इसे। तीन शाखाओं वाला यह छोटा पेड़ आज कुछ उदास-सा लग रहा है। सभी पर्ण अधोमुखी होकर पीतवर्णी हो चुके थे। हर शाखा पर जैसे पतझड़ ने डेरा डाल लिया हो।

बनवारी, रमैया, प्रभु, बिशनू सभी आज यहां एकत्र थे। कोने में कड़ाहे रखे हैं। प्रसाद बांटा जा रहा था और बच्चों की पंक्तियां उनके पुनः-पुनः आने से लम्बी होती जा रही थीं। कोई किसी को नहीं टोकता। जो जितनी भेंट चढ़ा सकता था, दानपात्र में डाल प्रसाद ले बाहर निकल जाता।

कुटिया के बाहर बिछे टाट पर कुछ और लोगों की तरह मैं भी बैठ जाता हूं। मेरी दृष्टि अभी भी शास्त्री जी के स्मृतिचिन्हों की तरफ है। उन्हें देखकर न जाने क्यों यादों के बादल मेरे अवचेतन मन को ढांपने लगे। एकटक देखने से गीले नेत्रकोरों ने बिम्ब की आकृति को और विशाल बना लिया।

संस्मरणों के सागर में खोए मुझे बनवारी ने हिलाया।

''अरे रमण! तुम कब आए?''

''अभी आ ही रहा हूं।''

''घर पर सब कुशल है?''

''हां।

''खाना खा लिया क्या?''

''नहीं! अभी आकर बैठा हूं।''

''तो चलो पहले प्रसाद ग्रहण करो।''

बनवारी ने रमैया को पुकारा और भोजन कराने की जिम्मेदारी उसे सौंप, वह दूसरी तरफ चला गया।

मैंने जब से होश संभाला मैं शास्त्री जी को जानता था। वे प्रतिदिन सुबह भिक्षा के लिए आते थे। सफेद चोगा एवं आधे पैरों तक सफेद धोती पहनते थे। वे साधु महात्माओं की तरह भगवां वस्त्र धारण न करते हुए भी पूर्ण सन्त थे। भिक्षा के लिए आने का उनका नियत समय होता था। जैसे ही वे दिखते, बच्चे उन्हें घेर

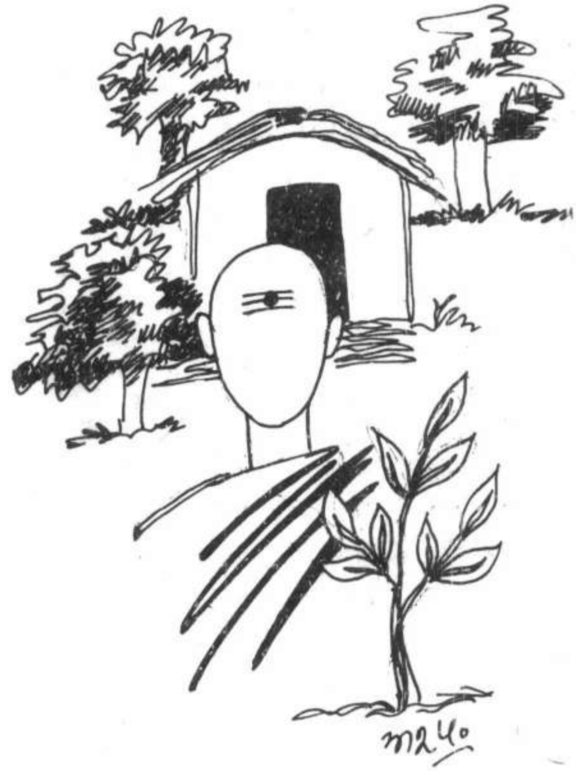

लेते थे। इसका विशिष्ट कारण था उनके कन्धे पर बैठा रहने वाला वाचाल तोता-मिट्ठू। कोई कच्चे चने मिट्ठू को खिलाने के लिए देता तो कोई तरबूज का टुकड़ा दिखाकर कहता—''बोलो मिट्ठू-सीताराम।'' मिट्ठू टें-टें कर देता।

यह बगीची शास्त्रीजी ने ही लगाई थी। भांति-भांति के पेड़-पौधे लाकर उन्होंने यहां रोपे। बगीची कण्व ऋषि के आश्रम की भांति थी जहां असंख्य जीव-जन्तु पलते थे। दूर तक फैले इस आश्रम को शास्त्री जी ने बड़े स्नेह से तैयार किया था। पावस के घनश्याम देखते ही मयूरों का स्वर, कोकिला एवं चटकाओं का मिश्रित स्वागत शब्द सुन शास्त्री जी आनंदित हो उठते थे।

आश्रम के आसपास कुक्कुरों की एक जमात बैठी रहती। जैसे ही शास्त्री जी गांव से भिक्षा लेकर बगीची की ओर आते दिखाई देते, सभी श्वान दुम हिलाने लगते मानों उनका अन्नदाता पधार रहा हो। वास्तव में शास्त्री जी सभी जीव-जंतुओं को पुत्रवतेव स्नेह करते थे।

शास्त्री जी का जन्म कब, कहां हुआ, उनके माता-पिता कौन हैं उन्होंने कभी किसी को कुछ नहीं बताया। गांव के एक वृद्ध ने एक दिन बताया कि जिस समय यह यहां आया इसकी उम्र दस-बारह साल रही होगी। शुरू-शुरू में यह सस्वर गीत गोविन्द की पंक्तियां गाकर भिक्षा मांगता था, इसी कारण लोग इसे शास्त्री जी कहने लगे। इसने गांव में आकर पथरीले तालाब के किनारे कुटी बनाई थी। बाद में वहां पेड़-पौधे लगाकर विशाल आश्रम बना दिया।

शास्त्री जी के गांव वालों से आत्मीय संबंध हो गए थे। उनके आश्रम में युवकों ने अखाड़े बना लिए जहां सुबह व्यायाम के बाद पारस्परिक सौहार्द एवं धर्म पर शास्त्री जी का प्रवचन होता था।

बनवारी, रमैया को लगा उनका व्यवसाय चौपट हो जाएगा। जब से ठेके की शराब लोगों को मिलनी शुरू हुई है लोग उनकी कच्ची शराब पीकर क्यों अपना शरीर बरबाद करेंगे?

उनकी मटकों वाली अवैध शराब के पीछे सौ जोखिम होते थे। कभी पुलिस का छापा, कभी मृत्यु का प्रकोप और इस सब से बढ़कर चोरी-छिपे इधर-उधर भटकना।

गांव की बाहरी सड़क पर शराब का ठेका खुल गया। जो लोग शराब पीते थे उन्होंने ठेके से लेकर शराब पीनी शुरू कर दी।

बनवारी का बापू कच्ची शराब निकाल कर बेचता था। गांव के बाहर पहाड़ी पर एक भरा पूरा बीहड़ है। वहीं रमैया के ताऊ ने भी अवैध भट्टियां लगा रखी थीं। रात को उधर से मटकों में शराब भर कर आती और दिन में इधर-उधर गुप्त रूप से बेच दी जाती।

बीहड़ को असामाजिक तत्वों ने अपना आश्रम स्थल समझ रखा था। वहां हर तरह की गतिविधियां होती रहतीं। एक बार उधर से गुजरने वाले राहगीरों को कुछ लोगों ने लूट लिया था। वे लूट का सामान लेकर बीहड़ में घुस गए।

गांव में सभी को पता है कि ये लोग कौन हैं और इनके पीछे किस राजनेता का हाथ है। परन्तु विरोध की हिम्मत कोई नहीं कर पा रहा था। भद्र पुरुष तो वैसे ही दुबके बैठे थे क्योंकि इनकी आलोचना करने का सीधा-सा अर्थ था स्वयं को अपमानित करवाना।

इन लोगों का गांव की राजनीति पर एकाधिकार था। पंच, सरपंच ये स्वयं या इनके चाटुकार ही चुने जाते थे।

जब इन्हें लगा कि गांव के पास देसी शराब के ठेके का लायसेंस दे दिया गया है तो इन्होंने गांव की पंचायत की ओर से निर्णय लिया कि जैसे भी हो इस शराब की दूकान को यहां से हटवाना ही है। उनके उचित तर्कों के पीछे स्वार्थ की राजनीति झांक रही थी।

घीसू ने कहा—''हम पहले हाथ-पैर जोड़कर इसे यहां से हटाने की गुजारिश करेंगे। यदि फिर भी सरकार ने इसे नहीं हटाया तो हम संघर्ष का रास्ता अपनाएंगे।''

चन्दन का मत था—''हम खून की आखिरी बूंद तक सरकार के ओछे हथकंडे का विरोध करेंगे। एक तरफ तो सरकार नशाबंदी का प्रचार करती है, दूसरी तरफ भोले-भाले ग्रामीणों में शराब की लत डाल रही है। हम अपने बच्चों का भविष्य खराब नहीं होने देंगे।''

बलदेऊ सरपंच ने इसका सीधा-सा हल समझा दिया—''हम शराब के उस ठेके के सामने दस-दस के समूह में रोज धरना देंगे। एक महीने तक किसी भी व्यक्ति को वहां से शराब नहीं खरीदने दी जाएगी। माह बाद या तो ठेकेदार स्वयं भाग जाएगा, नहीं तो गांव के सभी पुरुष, स्त्रियां और बच्चे कलक्टर साहब के दफ्तर के सामने प्रदर्शन करेंगे। मैंने पिछले हफ्ते विपक्ष के एक नेता से बात की थी। उन्होंने भी कहा है कि यह सब षड्यंत्र गांव वालों को लूटने के लिए है। उनके कार्यकर्त्ता भी हमारे साथ धरने में सम्मिलित हो जाएंगे।''

सीधे ढंग से सोचा जाए तो यह बात सही थी कि गांव के सभी लोग शराब की इस सरकारी दूकान का विरोध उचित ही कर रहे हैं। ऐसा कौन हो सकता था जो इसका विरोध न करे। यदि कोई इसके विरुद्ध प्रदर्शन या धरने में सम्मिलित नहीं होता तो इसका अर्थ है वह गांव के युवकों को शराब बनाने की सरकारी चाल में शामिल है।

पिछले साल रमैया की भट्ठी की शराब पीने से पड़ौसी गांव के दो बुजुर्ग मर गए थे। तीन आदमी अंधे हो गए। तब भी लोगों ने अवैध शराब की इन भट्ठियों का विरोध किया था। पर रमैया के लोगों ने उन्हें डरा धमका कर चुप करा दिया। पुलिस को पैसे देकर मामला रफादफा हो गया।

x x x

एक दिन सुबह-सवेरे टहलता हुआ मैं बगीची में गया। अखाड़े में कुछ युवक व्यायाम कर रहे थे। मैंने देखा शास्त्री जी तालाब के पास पड़ी एक शिला पर खड़े कुछ निहार रहे थे। मैं सीधा उनके पास पहुंच गया। प्रणाम कर उनसे आशीर्वाद लिया और पूछ बैठा—''शास्त्रीजी, आज प्रातःकाल शिला की तरफ कैसे आ गए? सुबह-सवेरे तो आप बगीची के पौधों को पानी देते थे।''

कहने लगे—''परसों मैंने एक नया पौधा रोपा है। न जाने इस नन्हें-से पादप से मुझे इतना लगाव क्यों हो गया? मैं हर समय इसके आसपास ही घूमता रहता हूं।''

शास्त्री जी मुझे लेकर उस तरफ चल दिए। कुछ दूर चल कर मैंने देखा, सचमुच क्यारी में एक अनूठा पेड़ लगा था। कई हरी-हरी कोंपलें उग आई थीं। बोले—''चाहता हूं। इस पर सदा बसन्त का आवास हो।''

मैंने पूछा—''एक दिन आपने कहा था पतझड़ और हरियाली, दोनों जीवन के लिए आवश्यक हैं फिर यहां विरोधाभास कैसे?''

उन्होंने कहा—''यह सब से छोटा है, इसलिए। अब न जाने कब मेरा शरीर पूरा हो जाए। बाकी सब तो अपने पैरों पर खड़े हैं पर इस बेचारे को अभी भी सहारे की जरूरत है।''

मैं उस तरुपुत्र के प्रति उनका वात्सल्य देख चकित रह गया।

गांव के युवकों एवं महिलाओं पर शास्त्री जी के विचारों का विशेष प्रभाव था। इसी कारण कई व्यक्ति उन्हें गुरुजी कहते थे।

उनके प्रवचन ग्रामीणों पर जादू-सा असर दिखाते। छोटे-मोटे झगड़े होते ही लोग उनके पास चले जाते। शास्त्री जी तो निष्पक्ष थे। जो निर्णय उन्होंने सुना दिया उसमें मीन-मेख निकालने की गुंजाइश ही नहीं रहती थी।

बलदेऊ, रमैया, घीसू भी शास्त्री जी की बगीची में आते थे। इनके गलत धंधों से शास्त्री जी परिचित थे। इसलिए कई बार उन्होंने इन्हें कह भी दिया था कि तुम इस जहर को मत फैलाओ। उन्होंने अपने प्रवचनों में भी समाज में व्याप्त व्यसनों पर प्रहार किया।

रमैया, बनवारी, बलदेऊ, घीसू आदि कई बार उनकी बातों से चिढ़ जाते थे क्योंकि बीहड़ में अधिकतर भट्ठियां इन्होंने ही लगा रखी थीं। पर ठेके के विरुद्ध धरने की बात तब तक सार्थक नहीं हो सकती थी जब तक शास्त्री जी लोगों को इसके लिए न कहें। इसलिए एक दिन बलदेऊ और रमैया ने मिलकर शास्त्री जी से चर्चा की। शास्त्रीजी जानते थे कि ये लोग स्वार्थवश यहां आए हैं। ठेके का विरोध ये मात्र इसलिए कर रहे हैं क्योंकि इस नई दूकान से इनका धंधा मंदा पड़ जाएगा। शास्त्री जी को इनसे क्या लेना था? उन्होंने रमैया से कहा—''जो लोग शराब नहीं पीते उनको ठेका खुलने या न खुलने से कोई फर्क नहीं पड़ता। पर जो पीते हैं उन्हें तो पीनी ही है चाहे ठेके से खरीदें या तुम्हारी भट्ठियों से। गांव वाले उस सरकारी शराब की दूकान का विरोध केवल इसी शर्त पर करेंगे कि बीहड़ की भट्ठियां भी हमेशा के लिए बंद होनी चाहिए। यदि अवैध भट्ठियां चलती रहीं तो यह जहर और तेजी से फैलेगा।''

लोगों की समझ में बात आ गई थी। कोई भी धरने के लिए तैयार न हुआ।

रमैया, बनवारी, बलदेऊ और घीसू कुछ दिन भूख हड़ताल पर बैठ कर आ गए। जब नेता जी को पता चला कि गांव में हवा विपरीत बह रही है तो उन्होंने आने का विचार ही छोड़ दिया।

गांव के इन पंचों को लगा कि यह तो उनकी सत्ता को खुली चुनौती है। बस, वे अवसर की ताक में घूमने लगे। शास्त्री जी के पीछे विपुल जनाधार देख उनमें यद्यपि उनकी प्रत्यक्ष आलोचना का सामर्थ्य तो नहीं था तथापि मौका मिलते ही परोक्ष रूप में वे लोगों को उनके विरुद्ध भड़काने लगे।

बलदेऊ का तो सारा कारोबार ही उल्टे-सीधे ढंग से पैसा कमाने में लगा था। शास्त्री जी की ईमानदारी की बातें उन्हें कचोटती थीं।

एक बार चुपके से रमैया ने बलदेऊ से कहा था कि शास्त्री जी ने पंचायती तालाब की जमीन पर कब्जा कर लिया है। हमें तो यह ढोंगी लगता है वरन् सच्चा साधु कभी औरतों को अपने आश्रम में नहीं घुसने देता।

बलदेऊ जमीन के मामले में उसकी बात का समर्थन तो करना चाहता था परन्तु उसे डर था कि कहीं शास्त्री जी के विरुद्ध कोई टिप्पणी पूरे गांव को ही न भड़का दे।

x x x

शराब की यह मान्यता प्राप्त दूकान उन लोगों के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन गई। इसे प्रतिष्ठा का प्रश्न मान बलदेऊ ने आसपास के कई गांवों के सरपंचों को एकत्र किया और कलक्टर साहिब से मिले।

इनका एक ही लक्ष्य था, जैसे भी हो यह सरकारी ठेका यहां से हट जाना चाहिए ताकि उनकी अवैध शराब बिकती रहे।

पिछले चुनाव अभियान में नेता जी को इन्हीं लोगों ने सहयोग दिया था। अब की बार भी यह स्पष्ट था कि इनके बिना चुनाव

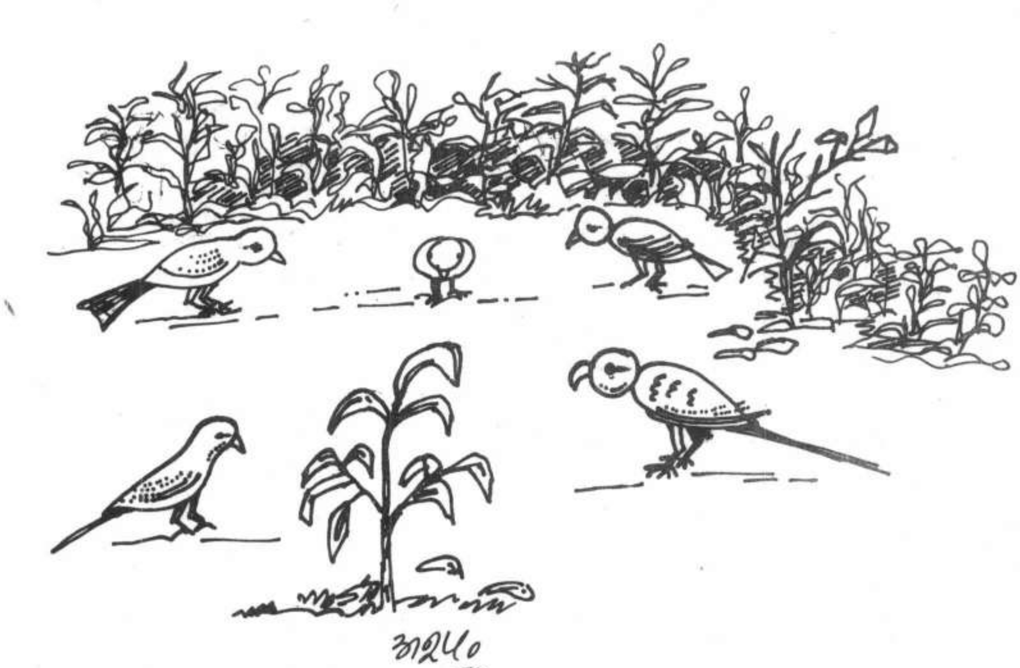

नहीं जीता जा सकता। ऐसे में इन लोगों का समर्थन करने का दायित्व उनका भी बनता था।

अन्त में पैसे और प्रयास के मिले-जुले स्वरूप से इनको दो माह बाद सफलता मिल ही गई। ठेका तो बंद हो गया पर इस काम में जो धन खर्च हुआ उसकी क्षतिपूर्ति के लिए आवश्यक था कि बीहड़ में कुछ भट्ठियां और लगाएं तथा शास्त्री जी के प्रवचन बंद कराए जाएं।

x x x

सुबह से ही लग रहा था, बगीची सुनसान है। न मिट्ठू की टें-टें, न पक्षियों का कलरव। एक अद्भुत मातम छाया हुआ था। वृक्षों पर बैठे छोटे पक्षी गर्दन झुकाए उस जगह को देख रहे थे जहां शास्त्री जी उनके लिए दाने बिखेरते थे। इधर-उधर पड़ी ओस भी उनकी आंखों से निकले आंसुओं का आभास दे रही थी।

सबसे उदास था नन्हा तरुपुत्र। आश्चर्य था कि इस मूक, अचेतन वनस्पति को भी कैसे आभास हो गया कि कुछ अशुभ हुआ है।

पूरे गांव में इस बात की चर्चा थी कि शास्त्री जी अचानक कहां चले गए?

वे कई दिन से उदास जरूर नजर आ रहे थे पर जाने के बारे में तो उन्होंने किसी के सामने चर्चा तक नहीं की।

बनवारी ने कहा—"मुझे लगता है, कहीं तीर्थ यात्रा पर चले गए हैं।"

तभी उसकी बात भगवान दास ने काट दी—"नहीं। उनके लिए तो यह गांव और यह बगीची ही तीर्थ था। इसे छोड़ कर जाने की वे सोचते भी नहीं थे।"

रमैया ने हाथ जोड़े और बोला—"ऐसे देवपुरुषों का क्या कहना? मुझे तो लगता है वे सशरीर देवलोक चले गए हैं।"

उस वक्त मैं भी उनकी बात सुन रहा था। गांव वालों की असीम श्रद्धा थी शास्त्री जी में।

बलदेऊ ने उन्हें इस युग का महापुरुष बताया। उसने कहा था, यह शास्त्री जी का ही योगदान है कि यहां से शराब का ठेका उठ गया वरन् गांव वालों के लिए मुसीबत बन जाती।

मैं बोला—"हमें शास्त्री जी के लापता होने की सूचना पुलिस में दे देनी चाहिए।"

रमैया, बनवारी हंसे।—"अरे कभी महापुरुषों को कोई बांध सका है? क्या नारद जी की रपट थाने में लिखाई जाती थी?"

मैं चुप हो गया।

कई वर्ष गुजर गए। शास्त्री जी नहीं आए। अब लोगों ने उम्मीद भी छोड़ दी कि वे आएंगे।

रमैया, बनवारी, बलदेऊ और गांव के दूसरे गणमान्य व्यक्तियों ने सोचा, शास्त्री जी जैसे व्यक्ति के लिए, जिन्होंने अपना पूरा जीवन गांव की भलाई में लगा दिया, हमें कुछ करना चाहिए।

पूरे गांव से पैसे इकट्ठे किए गए। लोगों ने दिल खोल कर दान दिया। पंचों ने मिलकर उनकी स्मृति में मठ बना दिया। उनकी कुटिया में उनके शेष बचे स्मृति चिन्हों को आदरपूर्वक स्थापित किया गया।

कुटिया में घी का दीपक जलता रहता है। शास्त्रीजी की याद में हर साल इस दिन श्राद्धभोज का आयोजन किया जाता। आसपास के गांवों से सैकड़ों लोग यहां एकत्र होते।

अब तो मठ की आय काफी बढ़ गई है। रमैया, बनवारी बलदेऊ और घीसू इसके संरक्षक हैं।

मैं शहर जा बसा। पर हर साल इस दिन बगीची में अवश्य आता हूं कि शायद शास्त्री जी लौट आए हों। पर यह मेरा भ्रम था।

मैं शिला से उठकर तालाब के किनारे खड़ा हो गया। उठती लहरें देख मन में विचार आया, फैनों से आवृत्त ये तरंगे किनारे से टकरा कर सो जाती हैं। क्या यही जीवन है?

बहुधा शास्त्री जी के साथ मैं इस तालाब के किनारे टहलता था। वे जीवन के हर क्षेत्र की बातें मुझे समझाते। कहते थे—"जीवन पथ से गिरो मत। मार्ग खोजो और चलते चलो।" सोचता हूं कितने सार्थक थे उनके शब्द।

हर वर्ष की भांति आज भी बगीची में काफी लोग एकत्र हुए थे मैंने वृक्षों को देखा, वहां सूनापन था। किसी पक्षी की कोई आवाज सुनाई नहीं दी। बाहर की तरफ भी झांका। कोई श्वान नजर नहीं आया। लगता था सचमुच शास्त्री जी की याद में आज सम्पूर्ण वातावरण शोक संतृप्त है। केवल वही लोग मौज कर रहे हैं जो जीवन भर उनका विरोध करते रहे। आज उन्हीं के नाम पर लूटपाट मचा रहे हैं।

बीहड़ की भट्ठियां आज भी चालू हैं। अब कोई विरोध नहीं करता।

मन में शंका उठती है, कहीं इन लोगों ने शास्त्री जी की हत्या तो नहीं कर दी? मानव की मनोवृत्ति देख लगता है सब कुछ सम्भव है। वस्तुस्थिति से अब मेरा शक विश्वास में परिवर्तित होने लगा। मुझे लगा, दम घुट रहा है।

उठ कर नन्हें तरु के पास पहुंच गया। वहां कई नई शाखाएं उग आई थीं। मैंने टहनियों पर बांहें फैला कर तरुपुत्र का आलिंगन किया। हवा के चलने से हिलती शाखाएं, टूटते पुष्प जैसे मुझसे लिपट कर बिलख पड़े हों। उस क्षण लगा शास्त्री जी को स्मरण कर तरुपुत्र ने उनकी स्मृति में पुष्पांजलि अर्पित की है। □

शास्त्री सदन, 392-बी
शास्त्री मार्ग, इंदिरा कालोनी
रोहतक (हरियाणा

साहित्यिक पत्रकारिता के युग-पुरुष शुक्लजी

शेखर चंद त्यागी

आज साहित्यिक पत्रकारिता अस्तित्व के संकट के दौर में है। समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं की भरमार है लेकिन उनमें पढ़ने लायक बहुत कम होता है। पढ़ने लायक साहित्य तो बहुत खोजबीन के बाद ही किसी अंश में कहीं दिखाई देता है। ऐसे में यह सूक्ति सार्थक दिखाई देती है कि 'साहित्य पढ़ा नहीं जाता और पत्रकारिता पढ़ने योग्य नहीं होती।' लेकिन हिन्दी पत्रकारिता के अतीत पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो जाता है कि उक्त सूक्ति न केवल निरर्थक है बल्कि साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में हमारे देश का अपना अलग स्थान था—अलग पहचान थी। यह दौर स्वाधीनता के पहले का वह दौर था जब पत्रकारिता पूरी तरह एक मिशन था। तब राजनीति के क्षेत्र में भी अनेक विभूतियां ऐसी थीं जो अपनी साहित्यिकता के कारण वर्षों तक याद की जाती रहेंगी।

इसी दौर में इलाहाबाद से 'सरस्वती' हिंदी-मासिक पत्रिका का प्रकाशन इंडियन प्रेस के स्वामी बाबू चिंतामणि घोष ने सन् 1900 ई. में किया। प्रारम्भ के दो वर्ष तक इसका सम्पादन एक संपादक-मंडल द्वारा होता रहा। इसके बाद जनवरी 1903 ई. से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी इसके संपादक बनाए गए। द्विवेदीजी ने साहित्य और भाषा दोनों को संस्कारवान बनाया।

द्विवेदी जी की ही कड़ी के इस पत्रिका के संपादक हुए हैं पंडित देवीदत्त शुक्ल, जिन्हें हिन्दी-जगत में भुलाना सम्भव नहीं। शुक्ल जी आचार्य द्विवेदी के शिष्य भी थे और उन्हीं के परामर्श पर 'सरस्वती' के संपादक बनाए गए थे। शुक्ल जी भी अपने 'गुरु' की भांति उच्च-शिक्षा प्राप्त नहीं थे किन्तु उनकी योग्यता विलक्षण थी। जिस दृढ़ता और संकल्प से, ईमानदारी और निष्ठा से उन्होंने 'सरस्वती' का संपादन-कार्य किया, उसमें वे 'साहित्यिक-पत्रकारिता के युग-पुरुष' की श्रेणी में सहज भाव से आ जाते हैं। हिन्दी भाषा के प्रति शुक्ल जी का अनुराग अन्यतम था। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर जितना भी लिखा जाए कम ही रहेगा। राष्ट्र-भाषा की जो उन्होंने सेवा की है, उस पर हजार पृष्ठों का ग्रंथ भी कम पड़ जाएगा। अतः दो टूक शब्दों में यही कहा जा सकता है कि शुक्ल जी राष्ट्रभाषा हिंदी के हिमालय-पुरुष थे।

सन् 1988 ई. में पंडित देवीदत्त शुक्ल की शताब्दी मनाई गई। शताब्दी के आयोजन अगले वर्ष 1989 ई. तक चले। इनमें शुक्ल जी के जीवन के अनेक अज्ञात पक्ष भी सामने आए और यह धारणा पुष्ट हुई कि उन्हें 'साहित्यिक पत्रकारिता का युग-पुरुष' कहा जाना सर्वथा उचित है और वर्तमान में पत्रकारों को उनसे प्रेरणा लेनी चाहिए जिससे कि पत्रकारिता में आवश्यक सुधार किए जा सकें।

पंडित देवीदत्त शुक्ल के संदर्भ में कुछ विद्वानों के विचार के इतिहास में 'सरस्वती' मासिक को आदर्श पत्रिका संज्ञा दी गई है, जिसकी शुरुआत पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने की और पत्रकारिता के क्षेत्र में अनेक मानदंड स्थापित किए। उनके बाद उस परंपरा को बनाए रखने का साहसपूर्ण दायित्व पं. देवीदत्त शुक्ल ने निभाया और लगातार 27 वर्षों तक 'सरस्वती' का संपादन कर एक कीर्तिमान स्थापित किया। उन्होंने अपनी शिक्षा काशी में प्राप्त की। अध्ययन काल से ही उनकी रुचि साहित्य और पत्रकारिता की ओर रही, जो आजीवन बनी रही। 'सरस्वती' के साथ-साथ शुक्ल जी ने सन् 1942 में 'चण्डी' पत्रिका की भी शुरुआत की, जो तंत्र-मंत्र और शक्ति उपासना की एकमात्र पत्रिका थी। उनके व्यक्तित्व का यह पक्ष बहुत कम लोग जानते होंगे कि वे तंत्र-शास्त्र के भी अच्छे विद्वान थे। शुक्ल जी ने साहित्य के सभी विषयों पर अपनी लेखनी चलाई। वे एक कुशल संपादक के रूप में राजनीति पर भी टिप्पणी करने से नहीं चूकते थे। बल्कि स्वाधीनता की लहर के प्रभाव में बड़ी ही बेवाक टिप्पणी करने से नहीं चूकते थे। बल्कि स्वाधीनता की लहर के प्रभाव में बड़ी ही बेबाक टिप्पणी करते थे। प्रसार-प्रचार से दूर श्री शुक्ल सदैव साहित्य-साधना में ही लीन रहे। बाहरी दायित्वों के लिए उन्हें बहुत कम समय मिलता था। वे वैद्यकी भी करते थे किंतु इसे उन्होंने निःशुल्क जन-सेवा का ही माध्यम बनाया। साहित्य-साधना को ही जीवन का ध्येय रखने वाले संपादकाचार्य शुक्ल जी 27 मई 1971 को इस संसार से विदा हो गए।

श्री त्रिलोचन शास्त्री के अनुसार—''हिंदी में मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का स्थान महत्वपूर्ण है। आरम्भ से लेकर 1960 तक यह पत्रिका पाठकों की प्रत्येक रुचि का ध्यान रखती थी। पंडित देवीदत्त शुक्ल के काल में यह पत्रिका पूर्ण रूप से रूपायित हुई। शुक्ल जी नए और पुराने दोनों प्रकार के साहित्य में निष्णात थे। उनकी हिंदी आज के हिंदी लेखकों की तुलना करने पर अधिक स्वाभाविक और प्रवाह-पूर्ण थी। अफसोस की बात है कि हिंदी में अच्छे लेखक अब कम मिलते हैं। प्राचीन कवियों का अध्ययन उन्होंने विशेष किया था। इसका पता उनकी समीक्षाओं से तो चलता ही है निराला जी के एक लेख से भी पता चलता है जो उन्होंने मौन कवि के बारे में लिखा है। शुक्ल जी प्राचीन विचारों को महत्व देते हुए भी आवश्यक नवीन विचारों के प्रतिकूल नहीं थे। नई पीढ़ी के लेखकों को चाहिए कि वे ऐसे हिंदी लेखकों की पुस्तक द्वारा हिंदी का स्वाभाविक भाषा-प्रवाह सीखें और उसे विकसित करें।'' □

आर जेड-388,
कैलाशपुरी, एक्सटेंशन,
नई दिल्ली-110046

सुहाग पर्व गणगौर

प्रभात कुमार सिंघल

राजस्थान की इंद्रधनुषी परंपराएं, भूरी-बालुई सुगंध, कचनारी चेहरों पर झूमते नथ-बोर, घूघंट की ओट से झांकती कजरारी-रसभरी निगाहें, पुरुषों का जुझारूपन-इनकी सतरंगी प्रथाएं, तीज-त्यौहार, मेले-ठेले.... लोक नृत्य और कोकिल कंठ से प्रस्फुटित लोक गीतों के सजीले स्वर पर भावना और आस्था के थिरकते सजीले त्यौहार यहां के जन जीवन में उल्लास की गंगा प्रवाहित कर जीवन को सरस बनाते हैं। क्वांरे स्वप्नों को गमगमाता और सुहागिनों की आशा और विश्वास के रंगों का, मन को उल्लासित करने वाला राजस्थान का बहुआयामी गणगौर पर्व वसंतोत्सवों की पूर्णाहुति और नूतन वर्ष का प्रथम मांगलिक पर्व है। नगर और गांव ही क्या ढ़ाणियों तक में यह पर्व आनंद और उल्लास की सरिता बहाता है।

'...रंगीला चंग बाजणू...' जैसे मदमस्त कर देने वाले होली के फागुन गीतों की गुदगुदाहट कम नहीं हो पाती कि गणगौर का सर्वाधिक चर्चित राजस्थानी त्यौहार लोक गीतों की मंजीरलय झंकृत करता आ धमकता है और फागुनी बयार में गूंज उठते हैं ये गीत 'भंवर म्हाने पूजण द्यो गणगौर...'।

गणगौर की सुबह जितनी खुशनुमा होती है वह देखने-अहसास करने की बात है। मेंहदी से सजी क्वांरी हथेलियां, सलमे-सितारे जड़ित झिलमिलाते घाघरे-चुन्नियां, मन में उमड़ती-घुमड़ती भावनाओं का समुद्र लिए षोड्शी उषाकाल में फूल और दूब चुनने-तोड़ने जब उद्यान और उपवनों में चहकती-बतियाती हैं तो उषा भी अपने भाग्य पर इठला उठती है। यहीं बालाएं दूब और फूलों को सिर पर रखे कलश में सजाकर, अपने नन्हें-नन्हें कोमल करों से संभाले गीतों के कोकिल स्वरों को परवान चढ़ाती, जब संपूर्ण राजस्थान की गलियों-रास्तों-मोहल्लों में गमगमाती हैं, राजस्थान की सुबह खिल उठती है। पूजा स्थलों के समीप जाते-जाते उनके गीतों की मधुर लय तीव्रतर होने लगती है।

''गवंर गिणगौर माता खोल किवाड़ियां
बाहर ऊभी थारी पूजन वाली
कान्ह कंवर-सो बीरो मंगा
राधा-सी भौजांई।''

क्वांरे स्वप्नों की यह भोर कितनी इंद्रधनुषी होती है जब यह गीत उनके मन के भावों को यूं व्यक्त करता है—गणगौर, अर्थात् पार्वती से प्रार्थना करती हैं, ''माता किवाड़ (पट) खोलो, बाहर तुम्हारी पूजा करने वाली खड़ी हैं, मुझे कृष्ण जैसा भाई दे और राधा जैसी भाभी।''

वास्तव में वासंती उन्माद के बाद जब यह पर्व आता है तो पूरा राजस्थान पार्वती और मंगलमय शिव की आराधना में महक उठता है। सुहाग-भरे कुमकुम और कोंपल कली के स्वप्न अपने-अपने दिलों में आशाएं संजोए माटी से बनाई गई ईसर-गौर के समक्ष नतमस्तक हो उठते हैं।

फागुनी रंगों के सतरंगी संसार के तुरंत बाद ही होली की राख से गौर की लुभावनी प्रतिमाओं का बनना शुरू हो जाता है। सुहागिनें अनेक प्रकार के रंगों, गोबर, खड़िया, आटे-हल्दी से लीप पोतकर रंगोली-चौक पूरने में व्यस्त हो जाती हैं।

ईसर की स्थापना जिस घर में होती है वहीं पास-पड़ौस की महिलाएं—कन्याएं इकट्ठी हो जाती हैं। ज्यादातर उसी घर में गौरी प्रतिष्ठित की जाती है। ऐसा वही घर चुना जाता है जहां नव वधू होती है। सुहागिनों की कामना-अखंड सुहाग बना रहे...चूड़लों से हाथ भरे रहें....पति (सायबा) की छाया में सोलह श्रृंगार बना रहे...बंद कमल नयनरूपी पलकों पर चमक उठती है...।

गणगौर की पूजा पंद्रह दिन तक सामान्य रूप से तथा अंतिम सोलहवें दिन विशेष रूप से की जाकर 'उजमण' किया जाता है और तब जुड़ते हैं मेले-ठेले।

राजतंत्र की परंपरानुसार आज भी जयपुर गुलाबी नगर में गणगौर की भव्य सवारी राजमहल त्रिपोलिया से ही निकलती है। आभूषणों से सजी पालकी, हाथी, घोड़ों, ऊंटों की कतारें, साथ छहागीर, किरवरियां, छंबा, छत्र आदि लवाजमा, वातावरण को मधुर बनाती गाजों—बाजों की धुनें, जुलूस को अपलक घूघंट की ओट से निहारती असंख्य आंखें, मार्ग भर दूकानों, मंदिरों की छतों, मुंडेरों पर भारी जमघट, वस्त्र-आभूषणों और रंगारंग चकदार पहरावे सभी राजस्थानी आन-बान और पुरुषों के जुझारूपन का प्रतीक मुखर हो उठता है। 'म्हारी घूमर छै नखराली ए मां, म्हें घूमर रमवा चाल्यां जी...लूंबा-लूंबा जी हूजा झूंबाजी, म्हारों गोरबंद नखरालो....' सुरीले स्वरों से मनोरम वातावरण की सृष्टि होती है।

राजस्थान की गुलाबी आभा वाले इस नगर के इस उत्सव में विदेशी भी पूरे मन से शरीक होते हैं। इसके अलावा बीकानेर एवं जैसलमेर संभाग में गणगौर पर आयोजित मेलों में ऊंटों एवं घोड़ों की दौड़ का भी अपना अनन्य आकर्षण है। प्राचीन कहावत है 'घोड़े गणगौर पर नहीं दौड़ेंगे तो कब दौड़ेंगे।' प्राचीन समय में उदयपुर एवं बूंदी की सवारियां भी अपनी सानी नहीं रखती थीं।

बूंदी की गणगौर के विषय में ऐसा कहा जाता है, नाव में अलंकृत गणगौर निकल रही थी, उसी समय कोई हाथी बिगड़ गया और नाव की ओर झपटा। उसे पकड़ने-संभालने के लिए सभी में होड़ मच गई। बूंदी के राजा के हुकुम से मदमस्त हाथी को छोड़ दिया गया। परिणामस्वरूप हाथी ने गणगौर की नाव उलट-पलट कर डुबो दी। तब से ही वहां मशहूर है—''बूंदी को हाड़ा ले डूब्यो गणगौर।''

गणगौर पर गाए जाने वाले लोकगीतों में गौर और ईसर के घरेलू जीवन की झांकी का मनोरम रूप वर्णन मिलता है—

(शेष पृष्ठ 51 पर)

महिलाएं और स्वराज्य

महिलाएं और स्वराज्य: लेखिका: आशारानी व्होरा: प्रकाशक: प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली; मुद्रक: गोयल प्रिंटर्स, भोलानाथ नगर, दिल्ली-110032; पृष्ठ संख्या: 480; मूल्य: 40 रुपये।

भारत के स्वतंत्रता आंदोलन पर अब तक काफी पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। स्वतंत्रता के आंदोलन में स्त्रियों ने एक विशेष भूमिका निभाई है। इस पर बहुत कम साहित्य उपलब्ध है। जितना भी साहित्य है वह नेताओं और सेना नायकों तक ही सीमित रहा है। महिलाओं की भागीदारी पर ढूंढ़ने से भी कुछ भी नहीं मिलता।

महिलाओं के बलिदान व अविस्मरणीय योगदान को जनसाधारण तक पहुंचाने के लिए भारत सरकार के प्रकाशन विभाग ने एक महत्वपूर्ण कार्य किया है। 'महिलाएं और स्वराज्य' नामक पुस्तक एक ऐसा ही प्रयास है।

इसमें 1757 ई. से लेकर 1947 तक वे विभिन्न विद्रोहों व उसमें महिलाओं के योगदान का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस कार्य को साकार रूप दिया है प्रख्यात लेखिका आशा रानी व्होरा ने। लेखिका का मानना है कि महिलाएं, विशेष रूप से आजादी के बाद जन्मीं नई पीढ़ी की पाठिकाएं, इससे प्रेरणा पाएंगी व गर्वित अनुभव करेंगी।

पुस्तक सात खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में 1757 से लेकर 1856 तक की स्थिति का वर्णन किया गया है। इसमें यह भी उल्लेख है कि भारत में अंग्रेजों के पैर कैसे जमें? आजादी प्राप्त करने के लिए पनपे तमाम विद्रोहों का भी वर्णन इसमें है। 'जंगल महाल का विद्रोह', 'संन्यासी विद्रोह', 'दक्षिण विद्रोह', 'चुआड़ विद्रोह' व 1824 के कई सशक्त विद्रोहों का रोमांचकारी वर्णन पढ़कर पाठक जोश से भर उठते हैं।

खंड 2 में 1857 के प्रथम मुक्ति युद्ध का वर्णन है। रानी लक्ष्मीबाई, बेगम हजरत महल, बेगम जीनत महल, अवंतिकाबाई लोधी व अन्य कई महान वीरांगनाओं के योगदान का वर्णन इस खंड में है।

खंड तीन में 1858 से लेकर 1905 तक के समय को लेखिका ने नवजागरण काल माना है। इसी काल में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म भी हुआ। नारी मुक्ति आंदोलन ने और जोर पकड़ा तथा प्रमुख नेत्रियों ने महिलाओं में नवजागरण का मंत्र फूंका। रामकृष्ण मिशन, वेद समाज, प्रार्थना समाज व अन्य संगठन अस्तित्व में आए तथा इन्होंने महिलाओं को प्रेरणा दी। 1905 से लेकर 1918 तक के समय को चौथे खंड में विस्तार से बतलाया गया है। बंग-भंग आंदोलन तथा बहिष्कार आंदोलन, क्रांतिकारी गतिविधियां, होम रूल आंदोलन, डा. एनी बीसेंट का उदय और कांग्रेस के दोनों दलों की एकता आदि जैसे विषयों पर लेखिका ने विस्तार से प्रभाव डाला है।

खंड छ: में क्रांतिकारी महिलाओं के संघर्ष की कथा प्रस्तुत करके लेखिका ने पूरे महिला समाज को प्रेरणा दी है। कस्तूरबा से लेकर दुर्गा भाभी व सुशीला दीदी तक के संघर्ष की गाथा पढ़कर अतीत का गौरवशाली चित्र आंखों के सामने घूमने लगता है।

अंतिम सातवें खंड में भारत छोड़ो विद्रोहात्मक आंदोलन तथा सत्ता हस्तांतरण का जिक्र है। इसी खंड में स्व. इंदिरा गांधी का स्वतंत्रता सेनानी रूप देखने को मिलता है। नेताजी सुभाष चंद्र बोस की आजाद हिंद फौज में महिलाओं की क्या भूमिका थी, नौ सेना विद्रोह के समय कितनी महिलाओं ने अपने प्राणों की आहुति दी। इन सब का रोमांचकारी वर्णन इसी खंड में है।

समीक्ष्य पुस्तक महिलाओं के लिए प्रेरणादायक तो होगी ही, साथ ही नई पीढ़ी के युवकों को भी यह संबल प्रदान करेगी। □

संतोष कुमार निर्मल

5 छ 15, जवाहर नगर,
जयपुर-302004 (राज.)

देखे सत्तर शरद बसंत

देखे सत्तर शरद वसंत; लेखक: राकेशगुप्त; प्रकाशक: ग्रंथायन, सर्वोदय नगर: सासनी गेट, अलीगढ़; प्रथम संस्करण: 1989; पृष्ठ संख्या: 666; साजिल्द मूल्य: 250 रुपये।

इधर हिन्दी के अध्यापन से जुड़ी विभूतियों की कई आत्मकथाएं प्रकाशित हुई हैं। 'जहां मैं खड़ा हूं', 'रोशनी की पगडंडियां' (रामदरश मिश्र), 'अर्द्धकथा' (नगेंद्र) के अतिरिक्त राकेशगुप्त की आत्मकथात्मक कृति 'देखे सत्तर शरद वसंत' इस संदर्भ में द्रष्टव्य है। हालांकि इधर हंसराज रहबर, स्वर्गीय फणीश्वरनाथ 'रेणु', उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि साहित्यकारों के आत्मचरितात्मक ग्रंथ भी छपे हैं, लेकिन 'अर्द्धकथा' और 'देखे सत्तर शरद वसंत' इन सबसे एक मायने में अलग हैं। इन कृतियों के रचयिता मूलत: आलोचक के रूप में ख्याति प्राप्त हैं। दोनों ने रस-सिद्धांत की पुनर्परीक्षा करते हुए पर्याप्त यश अर्जित किया है और उनकी ये कृतियां विश्वविद्यालयीय वातावरण तथा आधुनिक शिक्षा जगत के अंतर्विरोधों और उपलब्धियों को रेखांकित करने का महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती हैं। राकेशगुप्त ने अपनी 'आत्मकथा' को साहित्यकार का ब्रयान न कह कर 'एक अध्यापक की आत्मकथा' कहा है, जो 'अन्याय के विरुद्ध संघर्ष की गाथा' भी है। राकेशगुप्त ने घटनाओं के यथातथ्य और विस्तृत वर्णन का मार्ग अपनाया है। वह किसी व्यक्ति की भावनाओं को ठेस पहुंचाना नहीं चाहते लेकिन 'वस्तुनिष्ठा' और यथार्थ की अवज्ञा उन्हें अभीष्ट नहीं है: "यदि कहीं व्यक्ति विशेष द्वारा किए गए कार्यों

अंथवा कहे गए शब्दों के उल्लेख से किसी को अच्छा न लगे तो मेरी विवशता है। फिर भी मैं इतना अवश्य कहना चाहूंगा कि मेरे मन में किसी के प्रति दुर्भाव नहीं है, उनके प्रति भी नहीं, जिन्होंने जानबूझ कर मेरा बड़े से बड़ा अहित करने का प्रयत्न किया है" (प्राक्कथन)। साढ़े छह सौ से अधिक पृष्ठों में निबद्ध इस आत्मवृत्त के लेखन में स्मृति के अतिरिक्त बहुत-सी पत्रावलियों, पत्रों और डायरियों से भरपूर सहायता मिली है।

21 अगस्त 1919 को जन्में डा. राकेशगुप्त (पूरा नाम छैलबिहारीलाल गुप्त) ने इकतालीस शीर्षकों के अंतर्गत बचपन से लेकर सम्पूर्ण सेवावकाश के छह वर्ष तक के सत्तर वर्षों की न केवल महत्वपूर्ण और प्रमुख घटनाओं का पूरा लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है, अपितु सामान्य घटनाओं और औपचारिक मुलाकातों को भी यथासंभव इस रोजनामचे में दर्ज क्रिया है। कतिपय पाठकों और समालोचकों-रिश्तेदारों से भेंट, दूर-पास की यात्राओं, हजारों व्यक्तियों से भेंट के सपाट विवरण या मात्र सूचनाएं इस अर्थ में अखर सकती हैं कि इनसे 'आत्मकथा' की लय बार-बार टूटती है और रस भंग होता रहता है। लेकिन इसी रूप में यह कृति अन्य आत्मकथाओं से अलग भी है। इसके आधार पर कोई भी पाठक प्रयाग विश्वविद्यालय, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, राजकीय कालेज, ज्ञानपुर, डी. एस. बी. कालेज, नैनीताल आदि से संबंधित वर्षों में घटित घटनाओं, सम्पन्न गोष्ठियों, सेमिनारों, दीक्षांत समारोहों आदि का सिलसिलेवार लेखा-जोखा तैयार कर सकता है। इस तरह हर घटना या व्यक्ति की जानकारी देने का संकल्प इस आत्मवृत्त की शक्ति और सीमा दोनों हैं। श्री राकेशगुप्त ने अपनी सत्तर वर्षीय अनुभव-यात्रा को इकतालीस शीर्षकों में बांटा है।

इस आत्मवृत्त का महत्व इसकी साफ-सुथरी भाषा की दृष्टि से भी है। जो भी कहा गया है, स्पष्ट है, 'किंतु-परंतु' शैली में नहीं कहा गया है। वैचारिक प्रौढ़ता के फलस्वरूप कई स्थलों पर वाक्य सूक्तियों में परिणत हो गए हैं, "परहित चिंतन में जो स्वर्ग के सुख से भी बढ़ कर आनंद है, उसे भुक्तभोगी ही जान सकते हैं।" (पृष्ठ 306) जैसे वाक्य इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं। हालांकि कुछ प्रसंगों की आवृत्ति हुई है, जैसे शुरू के शोध-छात्रों का उल्लेख, लेकिन इतने बड़े ग्रंथ में कसावट और अन्विति बराबर बनी हुई है। समग्रतः सूचनाधर्मिता और रोचकता, अनुभवों की प्रामाणिकता और युग की प्रामाणिकता, वस्तुनिष्ठा और वैचारिक तेजस्विता का समुचित समन्वय करने में लेखक सफल रहा है। निश्चय ही हिन्दी की अच्छी आत्मकथाओं के बीच 'देखे सत्तर शरद वसंत' की चर्चा सम्मानपूर्वक होगी। □

डा. वेद प्रकाश अमिताभ
द्वारिकापुरी, अलीगढ़ (उ. प्र.)

नई कविता पर बहस के बहाने

पुस्तक : नई कविता : कथ्य एवं विमर्श; लेखक : डा. अरुण कुमार; प्रकाशक : चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या : 326; मूल्य : 140 रुपये।

डा. अरुण कुमार ने 'नई कविता : कथ्य एवं विमर्श' विषय पर शोध-कार्य किया और उसी शोध ग्रंथ को प्रकाशित करवाकर पुस्तक रूप में लाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। महत्वपूर्ण इसलिए क्योंकि शोध-प्रबंध अधिकांशतः प्रकाशित होते ही नहीं।

प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक डा. अरुण कुमार ने भूमिका में यह स्वीकार किया है कि दरअसल 'नई कविता' आज की जिंदगी की निहायत कड़वी, जटिल एवं भयानक सच्चाइयों को उकेरने एवं समकालीन यथार्थ के उद्घाटन का प्रामाणिक दस्तावेज है। उसकी अनुभूति एवं अभिव्यक्ति में इतना गहरा तालमेल रहा है कि जीवन के काठिन्य एवं सम्पूर्ण वैविध्य को सहज संप्रेष्य बना दिया है। किसी भी काव्यधारा को लेकर इतना विरोध नहीं हुआ जितना कि नई कविता को लेकर।

चूंकि लेखक ने नई कविता के विषय में ऐसी पृष्ठभूमि पहले से ही बना रखी थी अतः उसी लेखकीय मानसिकता के बीच उसने इस विषय को उठाया है। इसलिए विषय का आरंभ करने से पहले उसने नई कविता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विस्तार से विचार किया है। 'नई कविता' के नामकरण पर भी विचार हुआ है और एक रोचक तथ्य यह सामने आया है कि जिन दिनों निराला जी 'नए पत्ते' या पंत 'पल्लव' की रचना कर रहे थे उन्हीं दिनों हिन्दी काव्यधारा में परिवर्तन का स्वरूप झलकने लगा था। इस नएपन की प्रक्रिया में आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी ने निराला के 'कुकुरमुत्ता' से लेकर 'बेला' तक और उसे तानकर 'नए पत्ते' तक अपने स्मरण को खींचा है। उसके बाद की प्रक्रिया 'तार सप्तक' से आरंभ होकर 'प्रयोगवाद', 'नकेनवाद', 'सातवें दशक की कविता', 'तीसरा सप्तक' तक चलती रही और कुछ आलोचकों ने नई कविता के विकसित व्यक्तित्व को 'एंटी पोएट्री' और 'नान पोएट्री' तक कहा। नई कविता के नाम की समस्या हिन्दी साहित्य के पाठकों और आलोचकों के लिए एक आम सवाल है। इसी नामकरण के संबंध में आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी ने कहा था कि "1936 ई. के पश्चात छायावादी काव्य धारा से भिन्न नई प्रवृत्तियों और नए तत्वों से समन्वित जो काव्य कृतियां प्रकाशित हुई हैं वे या उन्हें हम नई कविता कह सकते हैं। उन्हें हम प्रगतिवादी कविता भी कह सकते हैं।"

नई कविता के प्रतिनिधि हस्ताक्षरों में लेखक ने अज्ञेय, भवानी प्रसाद मिश्र, धर्मवीर भारती, गिरिजा कुमार माथुर, मुक्तिबोध, भारत भूषण अग्रवाल, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदार नाथ अग्रवाल, रघुवीर सहाय, दुष्यंत कुमार, नरेश मेहता जैसे कवियों को लिया है और उनकी कविताओं की अपनी जमीन की संक्षेप में चर्चा की है।

बाद में चलकर (क) नए कवियों की प्रेरक भाव भूमि, (ख) नई कविता का कथ्य, (ग) नई कविता का वामपंथी रुझान, (घ) नई कविता की अभिव्यक्ति—भाषा-शैली खण्डों के अंतर्गत विस्तार से विवेचन किया है।

यह ग्रंथ नई कविता के संपूर्ण आचरण को विभिन्न कोणों से उद्घाटित करता है और ऐसा होने में लेखक ने परिश्रम किया है। 'नई कविता का कथ्य' अध्याय विशेष रूप से महत्वपूर्ण है जिसमें कविता के साथ आदमी के सरोकारों को जोड़ा गया है। या नई कविता के साथ राजनीति के जुड़ाव को दिखाया गया है पर एक संपूर्ण किताब के रूप में उस ग्रंथ की महत्ता प्रशंसनीय है। □

अमरेंद्र मिश्र
गगनांचल, आई.सी.सी.आर.,
आई.पी. इस्टेट, नई दिल्ली-110002

1987 की चुनी हुई कहानियां

कथावस्तु-87; सम्पादक: धर्मेन्द्र गुप्त; प्रकाशक: साहित्य सहकार, दिल्ली; संस्करण: 1988; मूल्य: पचहत्तर रुपये।

श्री धर्मेन्द्र गुप्त द्वारा सम्पादित कथा वस्तु-87 में वर्ष 1987 में प्रकाशित चुनी हुई अठारह कहानियां संकलित हैं। इन कहानियों के साथ-साथ सर्व श्री वेद प्रकाश अमिताभ, जयव्रत, सुरेश धींगड़ा तथा रत्न लाल शर्मा के आलोचनात्मक लेख भी हैं इन लेखों में कहानी के भविष्य तथा वर्ष 87 की कहानियों पर विचार किया गया है। ये लेख कहानी को समझने और परखने में सहायक हो सकते हैं। इन लेखों ने इस संकलन की उपयोगिता को बढ़ाया है।

इन अठारह कहानियों की विषय वस्तु अलग-अलग है। फिर भी कहानियों की मानसिकता तथा मूल-संवेदना को ध्यान में रखते हुए इन कहानियों को कुछ वर्गों में रख कर देखा जा सकता है। मरने-मरने में अन्तर (सुरेन्द्र तिवारी), जात्रा (शैलेश पण्डित), चुगद (मस्तराम कपूर) लक्ष्मण रेखा (भगवानदास मोरवाल) सम्बन्धों की कहानियां हैं।

जामा तलाशी (कमलेश्वर), अनाड़ी (मृदुला गर्ग), वसन्त की एक दोपहर (पंकज बिष्ट), कितना अच्छा दिन (महेश दर्पण) का सम्बन्ध निर्धनता और शोषण से है। ये कहानियां हरिजनों, निम्नवर्ग के लोगों की समस्याओं को उभारती हैं। 'वसन्त की एक दोपहर' कहानी का अन्त बहुत ही मार्मिक है जहां बुढ़िया अपनी बीमार बेटी से छीन कर रोटी खाती है। वह भी बीमार पड़ने के लिए तैयार है जिससे अस्पताल में उसे रोटी मिल सके। 'कितना अच्छा दिन' में छवि बाबू अपनी बेटी का विवाह उसकी सहेली के भाई के साथ इसलिए कर देना चाहते हैं कि वह दहेज नहीं लेगा तथा साथ ही उसके बेटे को फैक्टरी में नौकरी भी दिलवा देगा। अतीत-वर्तमान की यादों से बुनी यह कहानी महेश दर्पण की भाषा और शिल्प पर उसके अधिकार को स्पष्ट करती है।

काल खण्ड (गोविन्द मिश्र), तथा कालों हब्शी का संदूक (रामाकान्त), में केवल इतनी समानता है कि पहली कहानी का सम्बन्ध भारत के स्वतंत्रता संग्राम से है तो दूसरी अफ्रीका में रंग-भेद तथा आजादी के लिए किए जा रहे संघर्ष की कहानी है। ये दोनों कहानियां इस संकलन की सशक्त कहानियां हैं जो हृदय पर देशभक्ति तथा त्याग के भाव की अमिट छाप छोड़ती हैं।

ललक (प्रदीप पंत), और क ख ग से आगे (धमेन्द्र गुप्त) कहानियां आज की शिक्षा पद्धति पर प्रकाश डालती हैं। धर्मेन्द्र गुप्त की कहानी सरकारी स्कूलों तथा निर्धन छात्रों की समस्याओं को हमारे सामने रखती है जहां माता-पिता अपने बच्चों के लिए आवश्यक पाठ्य सामग्री भी नहीं जुटा पाते तो 'ललक' में पब्लिक स्कूलों की समस्या है जहां अभिजात्य वर्ग के छात्रों को देख-देख कर मध्य वर्ग के छात्र कुंठाग्रस्त हो जाते हैं। सरकारी स्कूलों में हरिजनों को दी जा रही आर्थिक सहायता का कितना दुरुपयोग हो रहा है, गुप्त की कहानी इस ओर भी संकेत करती है।

'एक आसमान के नीचे' विष्णु प्रभाकर की तथा इस संकलन की प्रथम कहानी है। रूस में मारिया अपने प्रेमी से विवाह करके पछताती है तो भारत में दयामयी अपने पिता के आदेश को मानते हुए अपनी पसन्द का विवाह नहीं करती और बाद में पछताती है। मारिया अपने पति को तलाक दे दूसरा विवाह कर सुखी है। लेखक यही समाधान दयामयी के सामने रखता है। पर भारत में न तो इतनी सहजता से तलाक मिलता है और न ही विवाहिता स्त्री को पति। दयामयी का लेखक मित्र भी उसे तलाक का ही सुझाव देता है। दोनों लेखकों के संवेदनशील व्यक्तित्व को लेखक ने कुशलता से उभारा है।

इस संकलन में कुछ सशक्त कहानियां हैं जो वर्ष 87 की कहानियों का प्रतिनिधित्व कर सकती हैं। इस दृष्टि से धर्मेन्द्र गुप्त का यह प्रयास सराहनीय है। □

डा. गुरचरण सिंह

न्याय के धाम पर

न्याय के धाम पर: लेखक: मनमौजी; प्रकाशक: विधिसेवा, ई-31, मानसरोवर गार्डन, नई दिल्ली; पृष्ठ संख्या: 110; मूल्य: 50 रुपये।

'न्याय के धाम पर' एक बेलौस रचनाकार की बेधड़क अभिव्यक्ति है। लेखन का जोखिम और जोखिम का लेखन इन दोनों ही मुहावरों का अर्थ मनमौजी की इस बेबाक पुस्तक को पढ़ने के बाद पाठक को अपने आप समझ में आ जाएगा। यह मैं मात्र भोली भावुकता के तहत नहीं कह रहा हूं, बल्कि इस वक्तव्य के नैपथ्य में पाठकीय-विश्वास भी दर्ज है। यदि इस पुस्तक का सामाजिक विश्लेषण किया जाए तो यह 'व्यंग्य' की एक नई उगति हुई 'नस्ल' को रेखांकित करती है। थके/बासे/हांफते हास्यास्पद कथानकों को और व्यंग्य के

पारंपरिक बिंबों के गोदाम के बाहर एक अलग अपनी नागरिकता का उद्‌घोष करती रचना यात्रा। न्याय और न्यायालयों के भीतरी जगत की घुटन, कानूनी तलघरों के आबनूसी अंधेरे और मानवीय मूल्यों से बेखबर विधि-विधान के हाशियों पर डंड पेलते 'कानून के शाहों', 'कलम-पठ्ठों और सामाजिक सरोकार की तलाश में', 'वकालती रोजे' और हठात संकली उपवास करते वैष्णव वकीलों की 'व्यथा-कथा' का एक संवेदनात्मक 'एक्सरे' है यह पुस्तक।

कथानक की पाठकीय पड़ताल से एक बात और उभरकर आती है कि पुस्तक व्यंग्य के प्रचलित आयतन और आयामों से एक अलग आयतन का निर्माण करती हुई दिखाई पड़ती है जो अपने भीतर 'चलना' जैसे माईक्रोफाईड प्रतीकों के जरिए 'विभागीय शुल्क' या 'सुविधा सौजन्य' जैसे विभागीय विकारों का तेजाबी भंडाफोड़ करती है। शिल्पगत ढंग से 'न्याय के धाम पर' एक व्यंग्य फैंटेसी है जिसमें कथात्मकता और कौतुहल के तत्व पाठकों की चेतना में एक 'चिंतनीय हतप्रभता' टांक देते हैं। मुंशी और वकील की बातचीत अदालती दिनचर्या का भीतरी सच जहां एक ओर पाठकों को परोसती-सी लगती है, वहीं दूसरी ओर पेशेवर लेखकों से अलग एक बेधड़क जुझारूपन भी उसमें जोड़ती है। समीक्षकीय तपतीश में पुस्तक में व्यंग्य की ताब ही ज्यादा है, हास्य के 'हास्यास्पद कोहरे' नहीं हैं, कहीं-कहीं हास्य आया भी है तो सहजता और सार्थकता के साथ। यह बताते हुए कि अदालत में कानून का चक्का कब चलता और कब जाम हो जाता है? मैं पंक्तियों और लेखों के शीर्षक सोच-विचारकर उद्धृत नहीं कर रहा हूं, ताकि पाठक का जिज्ञासाधर्मी लगाव पुस्तक से कम न हो जाए। बस और कुछ नहीं कहूंगा। 'कानून की डाल' पर चहचहाते इस मनमौजी यायावर लेखक की चहचहाट आप भी शब्दों में सुन ही लें। □

सुरेश नीरव
कादम्बिनी, हिन्दुस्तान टाइम्स भवन,
नई दिल्ली-110001

तीन लम्बी कहानियां

पुस्तक: नियमित; लेखक: मोतीलाल जोतवाणी; प्रकाशक: राजेश प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण: 1988; मूल्य: चालीस रुपये।

उपन्यास, लघु उपन्यास या उपन्यासिका में आकार भेद हो सकता है। परन्तु इनमें उपन्यास के तत्वों का होना अनिवार्य है। डा. मोतीलाल जोतवाणी की पुस्तक 'नियमित' में उन्हीं के मतानुसार तीन उपन्यासिकाएं हैं, परन्तु इनमें उपन्यास के तत्वों का अभाव है। इन तीनों कहानियों में जीवन के चौबीस घंटों की घटनाओं को ही चित्रित किया गया है। इन चौबीस घंटों में चरित्र अपने जीवन के अतीत में झांकते हैं, खुद को उभारते हैं, स्थितियों को स्पष्ट करते हैं, परन्तु इससे कथा का विस्तार नहीं होता।

इन तीनों कहानियों का सम्बन्ध महानगरीय समस्याओं से है। इन कहानियों में पुरुष चरित्रों की प्रधानता है। तीसरी कहानी 'नियमित' का स्त्री चरित्र जरूर कुछ उभरा है और प्रभाव डालता है। कहानियों के प्रमुख चरित्र क्रमशः मदनलाल, मनोहर लाल और मोहन लाल हैं। 'ये लोग' का मदनलाल सेल्स एक्जीक्यूटिव है जो सप्ताह भर यात्रा करने के बाद अपने कमरे में पहुंचता है। वह जीवन की नीरसता और व्यस्तता से छुटकारा पाने के लिए पिता की बीमारी का तार पाने के बावजूद रेखा के पाश में कुछ क्षण बिताना चाहता है। वास्तव में मदनलाल दुहरी जिंदगी जी रहा है। एक ओर महानगरीय संस्कृति का दबाव है तो दूसरी ओर संस्कार है। वह संस्कारों की दीवार को तोड़ नहीं पाता। 'पीली बत्ती पर' का मनोहर लाल समाचार पत्र में काम करता है। घर आने का उसका कोई निश्चित समय नहीं है। शायद इसी कारण उसके पारिवारिक जीवन में तनाव है। घर आकर भी वह निराश होता है क्योंकि उसकी पत्नी में समर्पण का भाव नहीं है। जबरदस्ती को वह रेप की संज्ञा देती है। इसी कारण उसका मनोरंजन का खर्च बढ़ता जाता है। वह कभी-कभी कैबरा देखने चला जाता है। एक दिन वह आधी रात को घर से बाहर निकल आता है—ब्लू फिल्म तथा फ्री सैक्स को देखता है। पर इससे घृणा उपजती है तथा मन में डर उभरता है। दूसरी ओर रजनी की भी अजीब मनःस्थिति है। अधिकार पाने के लिए वह नौकरी करने लगती है। बुद्धिजीवी होने के कारण मनोहर न तो रजनी में अबला का रूप देख सकता है और न उसकी स्वतंत्रता में बाधक बन सकता है। वह अनुभव करता है कि उनके विवाहित जीवन की रोशनी मंद पड़ रही है। यही वह स्थिति है जब दोनों खुद को चौराहे की पीली बत्ती पर पाते हैं। मनोहर लाल इस स्थिति से उबरने के लिए रोशनी की राह पर लौट आता है।

संग्रह की तीनों कहानियों में 'नियमित' भाषा, शिल्प और कथ्य की दृष्टि से सशक्त रचना है। इस कहानी में अमरीका के टूटते परिवारों की दुखद तथा करुणापूर्ण स्थिति को उभारा गया है। कहानी का नायक मोहन लाल अर्द्धनारीश्वर के भारतीय-विचार-परिप्रेक्ष्य में नारी स्वतंत्रता पर विचार-विमर्श करता है तथा श्रोताओं के प्रश्नों के उत्तर देता है। वह अनुभव करता है कि सैक्स स्वतंत्रता से बच्चे उपेक्षित हो गए हैं। नायिका लेडा अपने पति से अलग होने के बाद विभिन्न पुरुषों से सम्बन्ध रखती है। वह मोहन से सम्बन्ध स्थापित करने की भी इच्छुक है। मोहन के विचारों को सुन कर लेडा बच्चे के प्रति अपने कर्तव्य को अनुभव करती है। टूटते परिवारों और टूटते सम्बन्धों का मुख्य कारण उनका अहं और व्यक्तिवादिता है। लेखक चाहता है कि लोग अपने आसपास के लोगों तथा रिश्तों की तरफ ध्यान दें तभी उनका जीवन सुखमय हो सकता है।

'नियमित' की तीनों कहानियां महानगरीय जीवन के तनावों, विषमताओं तथा संत्रास को उभारती हैं। जीवन की विभिन्न स्थितियों का नए संदर्भों में जायजा लेती हैं। तीनों कहानियों में भाषा, शिल्प तथा कथ्य का कसाव है। □

डॉ. गुरचरण सिंह

6/15, अशोक नगर, नई दिल्ली-110018

माखनलाल चतुर्वेदी स्मृति समारोह

खण्डवा, राष्ट्रीय काव्य धारा के प्रणेता एवं हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार पं. माखनलाल चतुर्वेदी के पुण्य-स्मरण में विगत 29,30 एवं 31 जनवरी 90 को एक समारोह आयोजित किया। आयोजन मध्यप्रदेश साहित्य परिषद ने किया। प्रथम दिन डा. जगदीश गुप्त की अध्यक्षता में वरिष्ठ साहित्यकार पं. रामनारायण उपाध्याय एवं प्रसिद्ध कथा लेखिका डा. कृष्णा अग्निहोत्री ने 'दादा और खण्डवा' विषय पर अपने-अपने आलेख प्रस्तुत किए, जिनमें दादा से जुड़े खण्डवा के तमाम व्यक्तियों का उल्लेख करते हुए तत्कालीन समय की साहित्यिक एवं राजनैतिक घटनाओं की ओर ध्यान आकर्षित किया। कवि श्री हरनारायण व्यास ने अपना वक्तव्य दिया तथा दादा के नजदीकी व्यक्ति श्री अनोखेलाल अरझरे ने कुछ अछूते संस्मरण सुनाए।

दूसरे दिन प्रसिद्ध संतूरवादक श्री ओमप्रकाश चौरसिया के निर्देशन एवं स्वर संयोजन में भोपाल के 'मधुकली' वृन्दगान द्वारा माखनलाल जी के गीतों की दृश्य-श्रव्य प्रस्तुति की गई। प्रसिद्ध कथक नर्तकी श्रीमती रश्मि वाजपेयी के संयोजन में दादा के दो गीतों की कथक कलाकार अल्पना शुक्ला, विजय शर्मा और मोहिनी पूंछवाले द्वारा कथक प्रस्तुति अपने आप में सराहनीय प्रयास था। इस कार्यक्रम की दर्शकों-श्रोताओं ने मुक्त कण्ठ से सराहना की। कथक प्रस्तुति के ठीक बाद डाक्टर शिवमंगल सिंह सुमन की अध्यक्षता में दूसरा सत्र प्रारंभ हुआ। श्रीकांत जोशी के संचालन में 'माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन एवं सुभद्राकुमारी चौहान' विषय पर दिल्ली के डा. कृष्णदत्त पालीवाल ने अपना शोध लेख पढ़ा। उन्होंने माखनलाल जी के साहित्य की जमीन को ठीक-ठीक परखते हुए दादा के साहित्यिक और राजनैतिक अवदान को रेखांकित किया। डा. जगदीश गुप्त ने दादा के साहित्य में व्याप्त वैष्णव भावना तथा राष्ट्रीयता पर अपनी सार्थक टिप्पणी की। डा. सुमन ने दादा के साहित्य के बहुआयामी परिदृश्य पर लोगों का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा कि हिन्दी समीक्षा को दादा के बारे में नए सिरे से विचार करना होगा।

तीसरे एवं अंतिम दिन प्रातःकालीन सत्र में 'कैदी एवं कोकिला' कविता पर बहस शुरू होती है। डा. शशिभूषण शितांशु ने अपने शोध लेख में कविता के काव्य चिन्तन पर विशद और तर्कपूर्ण सामग्री पेश की। उन्होंने कैदी और कोकिल के बीच के वार्तालाप को परतंत्रता के परिवेश से जोड़ते हुए राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में व्याख्या दी। यह सत्र आमंत्रित साहित्यकारों की गर्मजोश बहस सार्थक सिद्ध हुआ। सत्र की अध्यक्षता वयोवृद्ध कवि रामेश्वर शुक्ल अंचल ने की। इसी दिन संध्या-सत्र में काव्य-गोष्ठी की सफल आयोजन था। डा. रामेश्वर शुक्ल अंचल, नन्द चतुर्वेदी, हरनारायण व्यास, श्रीकान्त जोशी, दिनकर सोनवलकर, हरीश पाठक, देवव्रत जोशी, प्रेमशंकर रघुवंशी, विनय दुबे, श्रीराम परिहार, अरुण सातले, प्रतापराव कदम, शशिकान्त गीते एवं अनिरुद्ध तिवारी ने अपने काव्य-पाठ से श्रोताओं को रससिक्त किया। □

डॉ. श्रीराम परिहार

ज्योति नगर, खंडवा-450001

डा. गिरिजाशंकर त्रिवेदी के सम्मान में गोष्ठी

सुप्रसिद्ध साहित्यकार एवं पत्रकार तथा 'नवनीत' मासिक के संपादक डा. गिरिजाशंकर त्रिवेदी के सम्मान में पिछले दिनों नई दिल्ली स्थित प्रकाशन विभाग के कार्यालय में एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इसमें राजधानी के अनेक वरिष्ठ पत्रकार तथा साहित्यकार उपस्थित थे।

संगोष्ठी को संबोधित करते हुए डा. गिरिजाशंकर त्रिवेदी ने कहा कि पत्रकारों व साहित्यकारों का समाज के प्रति बहुत बड़ा दायित्व है। उन्हें पूर्ण निष्ठा व साहस के साथ अत्याचार एवं बुराइयों का विरोध करते हुए इस दायित्व का निर्वाह करना चाहिए।

प्रकाशन विभाग के निदेशक तथा देश के सुविख्यात साहित्यकार एवं लेखक डा. श्याम सिंह शशि ने डा. त्रिवेदी द्वारा की गई पत्रकारिता और साहित्य की सेवाओं की प्रशंसा करते हुए कहा कि नई पीढ़ी के पत्रकारों को उनका अनुकरण करना चाहिए। उन्हें पत्रकारिता को पूरी लगन और निष्ठा के साथ एक मिशन के रूप में अपनाना चाहिए।

इस अवसर पर 'नंदन' मासिक पत्रिका के संपादक श्री जयप्रकाश भारती, दैनिक हिन्दुस्तान के समाचार संपादक डा. विश्वमित्र उपाध्याय, डा. जयपाल तरंग, प्रसिद्ध कहानीकार डा. मोतीलाल जोतवाणी तथा दक्षिण भारत और कानपुर से आए अनेक पत्रकार और साहित्यकार भी उपस्थित थे। □

जो दिल में बैठ जाए वही कविता है

रांची के स्थानीय सत्य भारती सभागार में 10 जनवरी को आयोजित एक विशेष समारोह में हिन्दी के जाने माने साहित्यकार आचार्य केसरी कुमार ने दो रचनाकारों डा. उपेन्द्र प्रसाद राय एवं प्रदीप कुमार झा 'चंद्रा स्वामी' की पुस्तकों का विमोचन किया।

डा. उपेन्द्र प्रसाद राय के लघुकथा संग्रह 'तुलसी चौरे पर नागफनी' और कविता संग्रह 'कांपती परछाइयां' तथा प्रदीप कुमार झा 'चंद्रा स्वामी' के कविता संग्रह 'इयत्ता संघर्ष की' का विमोचन करते हुए आचार्य केसरी कुमार ने कहा कि जीवन के कुछ ऐसे अनुभव होते हैं जो सिर्फ लघुकथा में ही व्यक्त किए जा सकते हैं। कविता पर अपने विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि अधिक से अधिक बातें यदि कम शब्दों में कही जाएं तथा वे अविस्मरणीय होकर पाठकों के दिल में बैठ जाएं वही कविता है। उन्होंने इन रचनाकारों का साहित्य परिवार में स्वागत करते हुए साहित्य भंडार की वृद्धि के लिए उन्हें बधाई दी।

पटना विश्वविद्यालय के डा. जगदीश नारायण चौबे ने डा. राय की कृति 'तुलसी चौरे पर नागफनी' को अच्छा प्रयास बताया तथा उनके संग्रह 'कांपती परछाइयां' को गहरे अनुभव की उपज बताया। उन्होंने लघुकथा पर अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा कि लघुकथाएं माचिस की तिल्ली के समान कौंध उत्पन्न करती हैं एवं डा. राय की कृति के बारे में कहा कि ये लघुकथाएं रचनाकार के आसपास की घटनाओं एवं दर्द की सही व इमानदारीपूर्वक की गई प्रस्तुति है।

डा. कालीकिंकर ने प्रदीप कुमार झा 'चंद्रा स्वामी' की कृति 'इयत्ता संघर्ष की' पर अपने विचार रखते हुए कहा कि इस संग्रह की कविताएं प्रगतिशील हैं।

समारोह की अध्यक्षता समीक्षक व नाटककार डा. सिद्धनाथ कुमार ने की एवं दोनों रचनाकारों को बधाई दी। सभा का संचालन प्रसिद्ध व्यंगकार डा. बालेन्दु शेखर तिवारी तथा धन्यवाद ज्ञापन युवा कथाकार डा. वासुदेव ने किया। □

राम कुमार प्रसाद

द्वारा यूनाइटेड बैंक ऑफ इंडिया
कांके शाखा, कांके, रांची-834006

राष्ट्रभाषा के अध्यापन को अधिक महत्व दिया जाए

भारतीय मुस्लिम लीग के अध्यक्ष एवं सांसद श्री सुलेमान सेठ ने आग्रह किया कि स्कूली पाठ्यक्रम में मातृभाषा और राष्ट्रीयभाषा के अध्ययन को अधिक स्थान दिया जाए। हिन्दीतर प्रांतों में हिंदी को कम से कम उतना स्थान दिया जाए जितना अंग्रेजी को दिया जा रहा है। श्री सेठ केरल हिन्दी प्रचार सभा से संबद्ध तिरूर हिन्दी कालेज के वार्षिक समारोह के सिलसिले में राष्ट्रभाषा पर हुई चर्चा में बोल रहे थे। उन्होंने कहा कि उच्चतम स्तर तक सभी विषयों का अध्ययन मातृभाषा में होना चाहिए। अंतरप्रांतीय संपर्क राष्ट्रभाषा हिन्दी में होना चाहिए। विदेशों में संपर्क बनाए रखने के लिए अंग्रेजी को भी बनाए रखना होगा। हमें चाहिए कि अंग्रेजी का स्थान धीरे-धीरे कम करते जाएं और हिन्दी को अधिकाधिक स्थान देते जाएं। हिन्दीतर प्रांतों में दक्षिण की कोई भाषा भी त्रिभाषा सूत्र के अंतर्गत सिखाई जाए।

समारोह का उद्घाटन करते हुए भारतीय मुस्लिम लीग के महा सचिव एवं सांसद श्री जी. एस. बनातवाला ने इस बात पर संतोष प्रकट किया कि जीवन में पहली बार उन्हें केरल के एक सार्वजनिक सम्मेलन में हिन्दी में बोलने का अवसर मिला। उन्होंने यह आशा प्रकट की कि केरल में हिन्दी का इतना प्रचार हो जाए कि यहां आने वाले किसी हिन्दी भाषी को अंग्रेजी का सहारा न लेना पड़े। हिन्दी देश की एकता, अखंडता और प्रेम का पैगाम देती है। हिन्दी के द्वारा इस पैगाम को देश भर में फैलाने की बड़ी जरूरत है। लेकिन अंग्रेजी को फौरन हटाना या हिन्दी को जबरदस्ती से थोपना दोनों गलत होगा।

केरल हिन्दी प्रचार सभा की परीक्षाओं में उन्नत स्थान प्राप्त तिरूर हिन्दी कालेज के छात्रों को श्री बनातवाला ने पुरस्कार प्रदान किए।

सभा की अध्यक्षता केरल हिन्दी प्रचार सभा के उपाध्यक्ष श्री के. केशवन नायर ने की। □

के. जी. बालकृष्ण पिल्लै
संपादक, केरल ज्योति, तिरुवनन्तपुरम (केरल)

विष्णु प्रभाकर को मूर्तिदेवी पुरस्कार

भारतीय ज्ञानपीठ ने हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक एवं नाटककार श्री विष्णु प्रभाकर को उनकी नाट्यकृति 'सत्ता के आरपार' के लिए वर्ष 1988 के मूर्तिदेवी पुरस्कार से सम्मानित करने का निर्णय लिया है।

श्री विष्णु प्रभाकर का जन्म 21 जून, 1912 को मुजफ्फरनगर (उ. प्र.) में हुआ था। श्री प्रभाकर ने, जो अपने पुराने नामों विष्णुदयाल, विष्णुगुप्त और विष्णुदत्त से भी जाने जाते हैं, अपनी जीवनयात्रा का प्रारंभ दफ्तरी के रूप में, उसके बाद लिपिक के रूप में और तत्पश्चात लेखककार के रूप में किया। अंतिम पद से इस्तीफा देने के बाद उन्होंने लेखन के क्षेत्र में प्रवेश किया। श्री प्रभाकर ने छह उपन्यास, बीस कहानी संग्रह, बारह नाटक, तेरह एकांकी संग्रह, तेरह जीवनवृत्त एवं संस्मरण, तीन यात्रा वृत्तान्त, दो विचार निबंध, बारह बाल नाटक एवं बाल एकांकी संग्रह और बालकथा संग्रह लिखे हैं।

उनकी यह पुरस्कृत कृति इस युग के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली की जीवनी चित्रित करती है। नाट्यकृति का प्रारंभ उस घटना से होता है जब उनके ज्येष्ठ भ्राता चक्रवर्ती सम्राट भरत ने तत्कालीन सभी राजाओं को अपने अधीन कर लिया था लेकिन पोदनपुर (तक्षशिला) नरेश बाहुबली ने सिर न झुकाते हुए उनके प्रभुत्व को चुनौती दी थी। बाहुबली और भरत के मार्मिक द्वन्द्व युद्ध की रोमांचक कथा का उल्लेख अनेक प्रमुख पुराणों में हुआ है। श्री प्रभाकर ने अपनी कृति में कथानक के भौतिक एवं आध्यात्मिक पहलुओं को बड़े प्रभावी ढंग से उभारा है। □

डॉ. पाण्डुरंग राव

भारतीय ज्ञानपीठ,
18, इंस्टीट्यूशनल एरिया,
लोधी रोड, नई दिल्ली-110003

शिवकुमार गोयल का सम्मान

हाल ही में जनपद गाजियाबाद के कस्बा पिलखुवा में प्रख्यात पत्रकार तथा लेखक श्री शिवकुमार गोयल का भारतीय साहित्यकार मंच की ओर से सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया।

समारोह के मुख्य अतिथि वयोवृद्ध हिन्दी सेवी श्री हरप्रसाद शास्त्री ने इस अवसर पर पत्रकारों, साहित्यकारों तथा कवियों का आह्वान किया कि वे देश की एकता और अखण्डता के लिए खतरा बने अलगाववादी तत्वों के विरुद्ध वातावरण बनाने में अपनी लेखनी तथा वाणी का प्रयोग करें।

इस अवसर पर नगरपालिकाध्यक्ष नरेश माहेश्वरी ने नगर की ओर से श्री गोयल को तिलक लगाकर तथा नारियल भेंट कर सम्मानित किया। □

धर्मेन्द्र गोयल

धर्म मुद्रणालय, पिलखुवा-245304,
जिला गाजियाबाद

(पृष्ठ 44 का शेष)

"ईसरजी तो पेचो बांधे
गोरा बाई पेच संवारे ओ राज
म्हें ईसर थारी साजी छां
साली छां मतवाली राज।"

आगमन पर गणगौर के जितनी खुशी और उल्लास रहता है विदाई पर लगता है बेटी ससुराल जा रही है। तभी तो पर्व को विदा करते गूंज उठते हैं ये कोकिल स्वर—

"म्हारे सोलह दिन रो चालो,
ईसर ले चाल्यो गणगौर
मैं पूजण रोटी खाली रही,
ईसर ले चाल्यो गणगौर।" □

के. आर. 56, सिविल लाइन्स, नयापुरा, कोटा-324001

भोपाल का लोकरंग

पिछले दिनों मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद के तत्वावधान में भोपाल में लोकरंग का आयोजन किया गया है। इस समारोह का यह चौथा वर्ष था जब लोकरंग में प्रदेश और उसके पड़ोसी राज्य के परम्परागत लोक नृत्यों और विभिन्न शिल्प कलाकारों की भागीदारी हुई।

आदिवासी और लोक कलाओं के इस मेले में लगभग चालीस शिल्पकार और मध्य प्रदेश के अलावा महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और राजस्थान की सोलह प्रदर्शनकारी विधाओं के दलों ने शिरकत की। इस तीन-दिवसीय मेले में इस वर्ष मुख्य आकर्षण पचीस नए शिल्पकार थे जो पहली बार अपने विविध शिल्पों के साथ लोकरंग में शामिल हुए थे। इनमें मिट्टी शिल्प, काष्ठ शिल्प, लोह शिल्प, घड़वा शिल्प, बांस शिल्प, खराद कला, लाख के नमूने, पत्ता-घास शिल्प, पीतलछीपा शिल्प के चितेरे अपनी सर्जना में तीन दिन तल्लीन रहे और दर्शकों ने इनकी सृजनात्मक अभिव्यक्ति का आनन्द उठाया। राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त श्री सुखचन्द घड़वा, श्रीमती बत्तो बाई के साथ प्रदेश के अनेक प्रतिष्ठित आदिवासी और लोक कलाकार इस प्रतिष्ठा आयोजन के मुख्य आकर्षण रहे। उदीयमान पण्डवानी गायिका मीना साहू, महिला पंथी दल, छत्तीसगढ़ी नाचा, पण्डो, भारिया, सहरिया, पहाड़ी कोरबा के नृत्य दल लोकरंग के पहले भागीदार थे जिनकी प्रस्तुतियों के अंदाज ने मन मोह लिया।

मध्य प्रदेश के झाबुआ अंचल में रहने वाले भील आदिवासियों को जीवन, उनका घर, रहन-सहन और परम्पराओं को दर्शाने का एक बड़ा ही श्रम पूर्ण जतन लोकरंग में किया गया था। यह जतन था वहां के रहवासी भीलों द्वारा तैयार की गई उनकी झोपड़ी जिसमें सभी जीवनोपयोगी वस्तुएं करीने से रखी थीं। वहीं आंगन में रह-रहकर सजी-धजी पोशाकों में स्त्री-पुरुष जब भगोरिया करने लगते तो ऐसा लगता जैसे फागुन आ गया है। मीना साहू की पण्डवानी दिलचस्प थी। राजस्थान का चकरी नृत्य, उत्तर प्रदेश का चरकुला, सहरियाओं का लहंगी नृत्य बड़े ही अद्भुत और प्रभावी थे। तीन-दिवसीय इस आयोजन में देखने वालों का तांता लगा रहता था। □

सुनील मिश्र
36/24, साउथ टी. टी. नगर,
भोपाल-3 (म. प्र.)

सुभाषचन्द्र बोस स्मृति सम्मान

दिल्ली की एक प्रमुख साहित्यिक, सांस्कृतिक संस्था, राजधानी स्वतंत्र पत्र-लेखक मंच के तत्वावधान में 22 जनवरी को नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की जयंती धूमधाम से मनाई गई। समारोह में लोकसभा अध्यक्ष श्री रविराय मुख्य अतिथि थे। अध्यक्षता स्वतंत्रता सेनानी संगठन के अध्यक्ष श्री शीलभद्र याजी ने की। संसद सदस्य श्री बी. सत्यनारायण रेड्डी और दैनिक वीर अर्जुन के प्रधान संपादक श्री अनिल नरेन्द्र और शिक्षाविद् एवं महानगर पार्षद डा. प्रशांत वेदालंकार समारोह के विशिष्ट अतिथि थे।

समारोह का संचालन मंच के महासचिव श्री दयानन्द वत्स ने किया।

इस अवसर पर मंच की ओर से लोकसभा अध्यक्ष श्री रविराय ने साहित्य एवं पत्रकारिता के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए अठारह साहित्यकारों और पत्रकारों को वर्ष 1990 के नेताजी सुभाषचन्द्र बोस स्मृति सम्मान से सम्मानित किया। सम्मानित साहित्यकारों और पत्रकारों में सर्वश्री वीरेन्द्र जैन (उपन्यास), श्री महेश दर्पण, श्री अरुण प्रकाश (कहानी), श्री विनोद भारद्वाज (कला समीक्षा), आरफा शबनम (ग़ज़ल), श्री मनमोहन चड्ढा (फिल्म पत्रकारिता), श्री धर्मवीर जयनर (फोटो पत्रकारिता), श्री 'काक' (कार्टून), श्री विजयक्रांति, श्री दुर्गाप्रसाद नौटियाल, श्री रवि रंजन पांडे, श्री बालकृष्ण, श्री राकेश भटनागर (पत्रकारिता), श्री सुरेश वशिष्ठ (स्वतंत्र लेखन), श्री सुरेन्द्र मोंगिया (पत्र लेखन) के लिए सम्मानित किए गए। □

दयानन्द वत्स
राजधानी स्वतंत्र पत्र-लेखक मंच,
400 ग्राम बरवाला, दिल्ली-110039

प्रकाशन विभाग के निदेशक डा. श्याम सिंह शशि को भारत सरकार द्वारा पद्मश्री की उपाधि से अलंकृत किए जाने पर अनेक संस्थाओं ने उनका सम्मान किया। चित्र में केंद्रीय सूचना और प्रसारण मंत्री श्री पी. उपेन्द्र एक समारोह में डा. शशि का सम्मान करते हुए।

यू (डी. एन.)-49 प्राप्त
दिल्ली डाक
आर. एन. 701/57

P. & T. Regd. No. D (DN)/125
Licenced U (DN)-49 to post without pre-payment at NDPSO New Delhi

Delhi Postal
R. N. 701/57